

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182744

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H809

Accession No. H 2074

T 62 H

Author

तिवारी, उदयनारायण

Title

हिन्दी भाषा तथा साहित्य

This book should be returned on or before the date last marked below.

हिन्दी भाषा तथा साहित्य

हिन्दी भाषा तथा साहित्य

उदयनारायण निवारी

एम० ए०, डी० लिट्०

अध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय



राजकमल

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

प्रकाशक,
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई ।

Checked 1963

मूल्य दो रुपये आठ आने

Checked 1963

मुद्रक,
गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस,
दिल्ली ।

सूची

भारत की भाषाएँ तथा हिन्दी	---	---	१
हिन्दी साहित्य	---	---	२५
वीरगाथा-काल	---	---	३१
भक्ति-काल	---	---	३८
रीति-काल	---	---	६०
आधुनिक-काल (गद्य)	---	---	१०७
आधुनिक-काल (पद्य)	---	---	१३५

भारत की भाषाएँ तथा हिन्दी

क्षेत्रफल की दृष्टि से भारतवर्ष एक राष्ट्र ही नहीं अपितु महाराष्ट्र अथवा महाद्वीप है। इसमें विभिन्न जातियों की संस्कृति तथा सभ्यता का संगम हुआ है। इस संगम के परिणामस्वरूप ही आज का भारतीय समाज है। संस्कृति तथा भाषा में भी पर्याप्त सम्बन्ध है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारत में सांस्कृतिक समन्वय के साथ-साथ भाषा के समन्वय का कार्य भी चलता रहा है; यही कारण है कि संस्कृत में भी निषाद, द्रविड़ आदि भाषाओं एवं बोलियों के शब्द जा मिले हैं। आर्य तथा अनार्य संस्कृति के इस समन्वय ने ही हमारी जाति को जीवित रखा है और इसी के प्रताप से स्वतन्त्रता के इस युग में हम गर्व से अपना सिर ऊँचा करके यह घोषणा कर रहे हैं कि हम एक राष्ट्र हैं तथा विश्व की कोई भी शक्ति हमें छिन्न-भिन्न नहीं कर सकती।

मोटे तौर पर आज भारत में चार भाषा-परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। ये हैं—(१) आस्ट्रिक या निषाद (२) द्रविड़ (३) तिब्बती-चीनी या भोट-चीनी (४) भारोपीय। इनमें भारोपीय अथवा आर्य परिवार की भाषाएँ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये पूर्वी पंजाब से लेकर बंगाल तथा गुजरात से लेकर नेपाल तक बोली जाती हैं। राष्ट्रभाषा हिन्दी इसी के अन्तर्गत आती है। इसके सम्बन्ध में आगे विचार किया जायगा।

(१) सर्वप्रथम यहाँ आस्ट्रिक या निषाद परिवार के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। इसके बोलने वालों की संख्या भारत की समस्त जनसंख्या का १३ प्रतिशत है। इस परिवार की भाषाओं को निम्नलिखित तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

[क] कोल या मुरडा—संथाली भाषा इसी के अन्तर्गत आती है। इसके बोलने वालों की संख्या २५ लाख से अधिक है। आदि काल से

संथाल लोग बिहार के निवासी हैं। ये काले रंग के तथा कद में नाटे होते हैं।

संथाली से ही सम्बन्धित मुण्डारी, हो भूमिज, खड़िया आदि भाषाएँ बिहार के कोल भाषा-भाषियों द्वारा बोली जाती हैं।

[ख] खसी—यह असम प्रान्त के खसिया पहाड़ की बोली है। इसके बोलने वालों की संख्या २ लाख ३४ हजार के लगभग है।

[ग] निकोवारी—यह निकोबार द्वीप में बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या १० हजार के लगभग है।

निषाद परिवार की ऊपर की बोलियों में लिखित साहित्य का अभाव है। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोप के ईसाई धर्म-प्रचारकों के प्रयत्न से इन भाषाओं का अध्ययन आरम्भ हुआ तथा इनमें बाइबिल का अनुवाद हुआ। मिशनरियों ने इन भाषाओं में प्रचलित मौखिक साहित्य का संकलन प्रकाशित करके सर्वप्रथम शिक्षित लोगों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया।

निषाद-भाषा-भाषी अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त अपने पड़ोस की एक-न-एक आर्य भाषा—बिहारी, बँगला या उड़िया—अवश्य जानते हैं। आर्य-भाषा-भाषियों से सम्पर्क स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है।

(२) द्रविड़ परिवार—इस परिवार की भाषाओं के बोलने वाले आजकल दक्षिण भारत में निवास करते हैं। विद्वानों का मत है कि आर्यों के आगमन से पूर्व ये लोग सिन्ध तथा पंजाब तक के भूभाग में फैले हुए थे तथा मोहन-जां-दड़ो एवं हड़प्पा की सभ्यताओं के यही जनक थे। इस समय भारत के लगभग ७ करोड़ १० लाख व्यक्ति विभिन्न द्रविड़ भाषाओं का व्यवहार करते हैं। इस प्रकार भारतीय जन-संख्या के २० प्रतिशत व्यक्ति द्रविड़ भाषा-भाषी हैं। इन भाषाओं में चार ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें प्राचीन काल से ही लिखित साहित्य उपलब्ध है। ये हैं—(क) तेलुगु या आन्ध्र (२ करोड़ ६० लाख), (ख)

कन्नड़ (१ करोड़ १० लाख), (ग) तमिल या द्रमिड़ या द्रविड़ (भारत में २ करोड़ तथा सिंहल में २० लाख), (घ) मलयालम या केरल— इसके अन्तर्गत लाक्षाद्वीपीय भाषा भी आती है (१० लाख से ऊपर) ।

इन साहित्य-सम्पन्न द्रविड़ भाषाओं के अतिरिक्त आदिम उपजातियों में प्रचलित कतिपय अन्य द्रविड़ भाषाएँ भी दक्षिण में प्रचलित हैं; यथा तुलू (१ लाख ५२ हजार), कोडगू या कुर्ग प्रदेश की भाषा (४८ हजार), तोदा (केवल ६००), गोंड भाषा (१० लाख ८६ हजार से अधिक, मद्रास प्रदेश तथा हैदराबाद में), कन्ध या कुई (५ लाख ८६ हजार, उड़ीसा में), कुँड़सू या ओराँव (१० लाख ३८ हजार, बिहार, उड़ीसा और असम प्रदेश में) तथा माल्तो (७१ हजार, राज-महल की पहाड़ियों में) । इन समस्त साहित्य-विहीन द्रविड़ भाषा-भाषियों को अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त एक-न-एक पड़ोस की संस्कृति-सम्पन्न भाषा अवश्य सीखनी पड़ती है ।

साहित्य-सम्पन्न द्रविड़ भाषाओं में तमिल का स्थान ऊँचा है । इसमें ईसा के बाद की दूसरी-तीसरी शताब्दी के काव्य-ग्रन्थ वर्तमान हैं । यह साहित्य 'चङ्कम-साहित्य' अर्थात् संघ या प्राचीन तमिल साहित्य-संघ द्वारा अनुमोदित साहित्य के नाम से प्रसिद्ध है । इन काव्य-ग्रन्थों से प्राचीन तमिल संस्कृति का सुन्दर परिचय मिलता है । परवर्ती तमिल में वैष्णव अलवार-भक्तों द्वारा पदों की रचना हुई है, जिनका भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान है । प्राचीन तमिल को 'चेन् तमिळ्' तथा तेरहवीं शताब्दी के बाद की तमिल को 'कोडुन्-दमिळ्' या आधुनिक तमिल कहते हैं । प्राचीनता, विचित्रता तथा महत्त्व की दृष्टि से तमिल साहित्य का संस्कृत के बाद ही स्थान है । भाषा की दृष्टि से भी प्राचीन तमिल एक विशेष प्रौढ़ एवं स्वतन्त्र भाषा है । यह संस्कृत के प्रभाव से बहुत-कुछ मुक्त है ।

कन्नड़-साहित्य प्राचीनता में प्रायः तमिल के ही समकक्ष है । इसमें ईसा की सातवीं शताब्दी के शिलालेख उपलब्ध हैं । प्राचीन कन्नड़

भाषा (‘पले-कन्नड़’ या ‘हले-कन्नड़’) ही वस्तुतः आधुनिक कन्नड़ (‘पोस्-कन्नड़’ या ‘होस्-गन्नड़’) में परिवर्तित हो गई है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही कन्नड़ पर संस्कृत भाषा का प्रभाव पड़ा है।

तेलुगु-साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ नन्नय भट्ट का महाभारत है। इसका रचना-काल १००० ई० है। इसके पूर्व भी अवश्य ही तेलुगु में साहित्य रचना हुई होगी। अत्यन्त प्राचीन काल से ही तेलुगु पर संस्कृत का प्रभाव यथेष्ट मात्रा में दृष्टिगोचर होता है। किन्तु कभी-कभी तेलुगु पण्डितों ने ‘अच्च तेलुगु’ (ठेठ या संस्कृत-विहीन तेलुगु) में रचना करने का प्रयास किया है। प्राचीन तेलुगु तथा आधुनिक काल में प्रचलित तेलुगु, इन दोनों का ही आधुनिक साहित्य-रचना में व्यवहार होता है। इनमें से आधुनिक युग के लिए कौन उपयोगी है, इस सम्बन्ध में तेलुगु लेखकों में मतभेद है।

मलयालम की उत्पत्ति प्राचीन तमिल से ही हुई है। इसे तमिल की छोटी बहन कहा जाता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में इसमें स्वतन्त्र साहित्य-रचना का प्रारम्भ हुआ। सापेक्षिक दृष्टि से मलयालम कन्नड़ से भी अधिक संस्कृत से प्रभावित है।

दक्षिण की इन चारों भाषाओं में एक तमिल ही ऐसी है जो मूल द्रविड़ भाषा की प्रकृति—उसके धातु तथा शब्द आदि—को सुरक्षित रखे हुए है और संस्कृत के एक शब्द के बिना भी इसमें वाक्य-रचना की जा सकती है। किन्तु तमिल पर भी संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव है। दक्षिण की ये चारों भाषाएँ आवश्यकतानुसार संस्कृत शब्दों का व्यवहार करती हैं तथा आधुनिक भाव के संस्कृत शब्दों को ये ज्यों-के-त्यों अथवा किंचित् परिवर्तन के साथ ले लेती हैं। उत्तर भारत की आर्य भाषाएँ तथा दक्षिण की चार द्रविड़ भाषाएँ यद्यपि विभिन्न परिवारों की हैं तथापि संस्कृत के प्रयोग के कारण इनमें पर्याप्त सम्बन्ध-सूत्र है और इसी कारण उत्तर भारत के हिन्दी, बंगला, गुजराती तथा मराठी भाषा-भाषी साहित्यिक तमिल, तेलुगु, कन्नड़ तथा मलयालम को बहुत-कुछ

समझ सकते हैं ।

(३) तिब्बत-चीनी या भोट-चीनी परिवार—इस परिवार के भाषा-भाषी वस्तुतः मंगोल जाति के थे । मंगोल जाति की आदि निवास-भूमि उत्तर-पश्चिम चीन में थी । इनकी एक शाखा उत्तरी चीन में बस गई । इसने ह्वांगहो नदी के तट पर ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व चीनी सभ्यता की नींव डाली । ईसा की प्रथम शताब्दी में, बौद्ध धर्म के माध्यम से जब भारत तथा चीन का सम्पर्क स्थापित हुआ तो पारस्परिक सांस्कृतिक सम्बन्ध के कारण चीनी सभ्यता और परिपुष्ट हुई ।

भोट-चीनी जाति की दूसरी दै या थाई शाखा स्याम देश में तथा तीसरी म्रन-मा या व्यम्मा शाखा बर्मा में जा बसी । चीन की भाँति ही इन दोनों शाखाओं पर भी बौद्ध धर्म के द्वारा भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का पूर्ण प्रभाव पड़ा । इस भोट-चीनी जाति की बोद या भोट शाखा ईसा के ५०० वर्ष पूर्व तिब्बत में जा पहुँची तथा इनकी अन्य उपजातियाँ असम, उत्तरी-पूर्वी बंगाल तथा नेपाल में जा बसीं । इन प्रान्तों की हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति पर मंगोल जाति का विशेष प्रभाव पड़ा । नेपाल की नेवारी जाति ने बौद्ध धर्म के प्रभाव तथा बंगाल और बिहार के साहचर्य से आज से एक सहस्र वर्ष पूर्व उच्च सभ्यता ग्रहण की । इसी प्रकार मणिपुर की मेइ-तेइ या मणिपुरी जाति भी, पिछले दो-ढाई सौ वर्षों से बंगाल के गौड़ीय वैष्णव धर्म के प्रभाव से सुसंस्कृत होकर कला तथा साहित्य के क्षेत्र में अग्रसर हो रही है । इनकी अन्य उपजातियाँ गारो, लुशेई तथा नागा हैं । भारत में भोट-चीनी भाषा-भाषी ४० लाख हैं । इस प्रकार भारत की कुल जनसंख्या के ये ८५ प्रतिशत हैं ।

(४) भारोपीय अथवा आर्य भाषा-परिवार—भारोपीय शब्द वस्तुतः भारत-यूरोपीय का संक्षिप्त रूप है । इस परिवार की भाषाएँ उत्तर-भारत, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ईरान तथा सम्पूर्ण यूरोप में बोली जाती हैं । संस्कृत, पालि, अवेस्ता की भाषा, पुरानी फ़ारसी, ग्रीक,

लैटिन आदि प्राचीन भाषाएँ इसी परिवार की थीं। आजकल इस कुल में अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, जर्मन, अर्वाचीन फारसी, पश्तो, सिन्धी, पंजाबी, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बिहारी, बंगाली, उड़िया तथा असमिया आदि भाषाएँ हैं।

विद्वानों का अनुमान है कि इस परिवार की भाषा के बोलने वाले 'विरास' अथवा आर्य लोग, ईसा से लगभग तीन सहस्र वर्ष पूर्व, यूराल पर्वत के दक्षिण रूस की समतल भूमि में रहते थे। ये लोग वस्तुतः मूल भारोपोय भाषा के बोलने वाले थे और यही भाषा यूरोप तथा भारत की प्राचीन एवं अर्वाचीन आर्य भाषाओं की जननी थी। इसकी विभिन्न शाखाएँ पश्चिम, दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व की ओर फैल गईं। ईसा से लगभग दो सहस्र वर्ष पूर्व उत्तरी मेसोपोतामिया में सर्वप्रथम आर्यों का पता लगता है। काशि नामक इनके एक दल ने ईसा से १७४४ वर्ष पूर्व बाबिलन नगर पर अधिकार करके वहाँ राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। मितानी तथा हार्रि नाम के इनके दो अन्य दलों ने इधर स्वतन्त्र राज्य स्थापित किए। आगे चलकर इनकी कुछ उपजातियों ने पहले ईरान तथा वहाँ से भारत में प्रवेश किया। ईरानी तथा भारतीय आर्यों की भाषा प्रायः समान थी। ये एक-दूसरे की भाषा को समझ लेते थे। भारत के वेदों की भाषा तथा ईरान की अवेस्ता एवं वहाँ की ईसा से ५०० वर्ष पूर्व के शिलालेखों की पुरानी फारसी भाषा में इतना साम्य है कि इन्हें एक ही भाषा की दो बोलियाँ अथवा शैलियाँ कहा जा सकता है।

भारत में जो आर्य आये, उन्हें यूरोप के आर्यों से पृथक् करने के लिए भारतीय-आर्य कहा गया है। यद्यपि भारतीय आर्यों के विभिन्न गोत्रों में प्रचलित बोलचाल की भाषा में थोड़ा-बहुत अन्तर था तथापि उस समय में भी साहित्यिक भाषा का एक सामान्य रूप प्रतिष्ठित हो गया था जिसके नमूने हमें ऋग्वेद में मिलते हैं। सर्वप्रथम आर्यों ने उत्तर पंजाब को अपना निवास-स्थान बनाया। इसके बाद वे पूर्व की

ओर गये । सिन्धु तथा पंजाब प्रान्त से धीरे-धीरे ये गंगा-यमुना के प्रदेश की ओर बढ़े । उनके साथ-ही-साथ आर्य भाषा का भी प्रचार तथा प्रसार बढ़ा । भगवान् बुद्ध के जीवन-काल में, गांधार या पूर्व अफगानिस्तान से बंगाल की पश्चिमी सीमा तक, समस्त उत्तरी भारत में आर्य भाषा फैल गई ।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि ऋग्वेद में भारतीय आर्यों की भाषा के प्राचीन रूप उपलब्ध हैं । इस भाषा को विद्वानों ने प्राचीन अथवा आदि आर्य भाषा की संज्ञा दी है । समय की प्रगति से यह भाषा जनसाधारण के लिए दुर्बोध्य होने लगी । तब ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम तथा मध्यदेश के ब्राह्मणों के आश्रमों एवं गुरु-कुलों में इस प्राचीन आर्य भाषा के एक अर्वाचीनतर रूप की विशिष्ट साहित्यिक रूप में प्रतिष्ठापना हुई । आधुनिक उत्तरी-पश्चिमी पंजाब के निवासी महर्षि पाणिनी ने इस नवीन साहित्यिक भाषा के व्याकरण (अष्टाध्यायी) की रचना की और इसे लौकिक भाषा के नाम से सम्बोधित किया । पीछे इसी का नाम संस्कृत पड़ा । इसका अन्य नाम 'देवभाषा' भी हुआ । धीरे-धीरे संस्कृत प्राचीन तथा मध्ययुग की शिक्षा, साहित्य तथा दर्शन की भाषा बन गई । यह हिन्दू सभ्यता तथा संस्कृति के प्रचारक के रूप में समग्र भारत तथा भारत के बाहर, इन्दीचीन, द्वीपमय भारत तथा मध्य एशिया में प्रतिष्ठित हुई और तिब्बत, चीन, कोरिया एवं जापान में भी इसका अध्ययन-अध्यापन होने लगा । इधर बोलचाल की भाषा में परिवर्तन होता गया और पश्चिमोत्तर या पंजाब, मध्यदेश तथा प्राच्य अर्थात् अयोध्या, काशी, मगध तथा दक्षिण में इसकी स्थानीय शैलियाँ प्रचलित हो गईं । इस काल को मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा का युग कहा गया है और इसका समय अनुमानतः ईसा के ६०० वर्ष पूर्व से १००० ईसवी तक निर्धारित किया गया है । इन स्थानीय भाषाओं का भी धीरे-धीरे साहित्य में व्यवहार होने लगा और बौद्धों तथा जैनों के प्रयत्न से पालि तथा

प्राकृत में साहित्य-रचना होने लगी। इस प्रकार बोलचाल की ये भाषाएँ भी जनसाधारण के लिए दुर्बोध्य हो चलीं।

लगभग १००० ईसवी में आर्य भाषा ने एक नवीन अवस्था में प्रवेश किया और इसी समय आधुनिक जीवित भाषाओं का जन्म हुआ। इस काल को नवीन अथवा नव्य-आर्य भाषा का युग कहा गया है। नवीन आर्य भाषाएँ आज मौखिक एवं साहित्यिक, इन दोनों रूपों में प्रचलित हैं किन्तु इनके पीछे लगभग तीन सहस्र वर्षों की संस्कृत भाषा की उज्ज्वल परम्परा है। प्राचीन तथा मध्ययुग की भाषाओं का संस्कृत ने समय-समय पर पोषण किया है और आज भी वह आधुनिक आर्य भाषाओं को अनुप्राणित कर रही है।

भारत में आर्य भाषाएँ सबसे अधिक प्रतिष्ठाशाली हैं। इनके बोलने वालों की संख्या २५ करोड़ ७० लाख के लगभग है और सम्पूर्ण भारत की जनसंख्या के ७३ प्रतिशत से भी अधिक है। पारस्परिक सम्पर्क तथा सम्बन्ध पर विचार करके डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने भारत की समस्त मौखिक एवं साहित्यिक आधुनिक आर्य भाषाओं को निम्नलिखित भागों अथवा श्रेणियों में बाँटा है :—

[क] उत्तरी-पश्चिमी श्रेणी—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित बोलियों का समावेश है :

१. हिन्दकी या लहँदा या पश्चिमी पंजाबी—बोलने वालों की संख्या ८५ लाख।

२. सिन्धी (कच्छी समेत)—संख्या ४० लाख।

[ख] दक्षिणी श्रेणी—३. मराठी—२ करोड़ १० लाख। इसके अन्तर्गत कोंकणी, १५ लाख और हलबी भी है।

[ग] पूर्वी श्रेणी—४. उड़िया—१ करोड़ १० लाख;

५. बंगला—५ करोड़ ३५ लाख (इसमें बंगला के विभिन्न प्रान्तीय रूप भी सम्मिलित हैं।)

६. असमिया—२० लाख।

७. बिहारी भाषा समूह—इसके अन्तर्गत (i) मैथिली—१ करोड़ (ii) मगही—६५ लाख (iii) भोजपुरी (सदानी या नगपुरिया समेत)—२ करोड़ ५ लाख ।

[घ] पूर्व-मध्य श्रेणी—८. कोशली या पूर्वी हिन्दी—इसके अन्तर्गत (i) अवधी (ii) बघेली तथा (iii) छत्तीसगढ़ी, इन तीन बोलियों का समावेश है । इन तीनों उपभाषाओं के बोलने वालों की संख्या २ करोड़ २५ लाख है ।

[ङ] मध्य-देशीय श्रेणी—९. हिन्दी गोष्ठी या पश्चिमी हिन्दी—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित पाँच बोलियों का समावेश है — (i) जनपदीय हिन्दुस्तानी या खड़ी बोली । इसी की दो साहित्यिक शैलियों, साधु या नागरी हिन्दी तथा उर्दू, में उत्तरी भारत में साहित्य-रचना हो रही है तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद नागरी हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा घोषित की गई है । (ii) बाँगरु या जाटू; (iii) ब्रजभाषा; (iv) कन्नौजी (v) बुन्देली । इन पाँचों बोलियों के बोलने वालों की संख्या ४ करोड़ १० लाख है ।

१०. पंजाबी या पूर्वी पंजाबी (डोगरी सहित), १ करोड़ ५५ लाख ।

११. राजस्थानी-गुजराती—इसके अन्तर्गत (i) गुजराती, १ करोड़ १० लाख (ii) राजस्थानी—अपनी उपभाषाओं सहित १ करोड़ ४० लाख । राजस्थानी की उपभाषाएँ हैं—पश्चिमी राजस्थानी या मारवाड़ी (मेवाड़ी तथा शेखावाटी इसी के अन्तर्गत हैं), ६० लाख; पूर्व-मध्य राजस्थानी—जयपुरी तथा उसकी विभिन्न शैलियाँ यथा अजमेरी और हाड़ौती—३० लाख; उत्तरी-पूर्वी राजस्थानी—इसके अन्तर्गत मेवाड़ी तथा अहिरवाटी बोलियाँ आती हैं, १५ लाख; मालवी, ४३ लाख; इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य उपभाषाएँ तथा (iii) भीली उपभाषा-समूह, २० लाख (iv) दक्षिण-भारत के तमिल देश में प्रचलित सौराष्ट्री तथा (v) पंजाब एवं कश्मीर की गूजरनी भी राजस्थानी के ही अन्तर्गत हैं ।

[च] उत्तरी या पहाड़ी श्रेणी—१२. पूर्वी पहाड़ी या नेपाली, ६० लाख;

१३. मध्य पहाड़ी (प्रधान भाषा, गढ़वाली तथा कुमाऊँनी), १० लाख और;

१४. पश्चिमी पहाड़ी भाषा-समूह, १० लाख ।

इनके अतिरिक्त भारत के बाहर की दो और शाखाओं की भारतीय आर्य भाषाओं का उल्लेख यहाँ आवश्यक है । ये हैं—

[छ] सिंहली श्रेणी—सिंहली तथा इसके अन्तर्गत मालदीप की भाषा ।

[ज] रोमनी या जिप्सी श्रेणी—पश्चिमी एशिया तथा यूरोप में प्रचलित जिप्सी भाषाएँ । जिप्सी घुमन्तू जातियों में से है । यह जाति प्राचीन काल में भारत से ही गई है ।

इन भाषाओं के अतिरिक्त निम्नलिखित भाषाएँ भी भारत में प्रचलित हैं—

(१) दरद-आर्य या पैशाची (२) ईरानी आर्य भाषा ।

इनमें दरद-आर्य भाषा के क्षेत्र भारत और अफगानिस्तान की सीमा के दुर्गम पहाड़ी प्रदेश हैं । कश्मीरी (प्रायः १५ लाख) की गणना दरद-आर्य भाषा के अन्तर्गत ही की जाती है । यह पहले शारदा लिपि नामक देवनागरी के अनुरूप वर्णमाला में लिखी जाती थी । कश्मीरी पर संस्कृत का प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है । शीशा (६८,०००), एवं खोबर या चितराली, बशागाली, पशौ आदि उपभाषाएँ अल्पसंख्यक लोगों में प्रचलित हैं तथा दरद-आर्य भाषा की ही बोलियाँ हैं ।

ईरान शाखा की आर्य भाषाओं में दो मुख्य भाषाएँ पाकिस्तान में प्रचलित हैं । इनमें एक है पश्तो या पख्तो, दूसरी बलोची । सीमान्त प्रदेश में प्रायः १५ लाख पश्तो भाषा-भाषी रहते हैं । इनके अतिरिक्त अफगानिस्तान में अनेक पख्तो-भाषा-भाषी बसे हुए हैं । बलोची वस्तुतः बलोचिस्तान की भाषा है ।

कश्मीर के उत्तर में हुंजा के नगर राज्य में बुरुशास्की या खजुना नामक एक भाषा प्रचलित है जिसके बोलने वालों की संख्या २६ हजार है। पड़ोस की भाषाओं से इसका सम्बन्ध-सूत्र नहीं मिलता। यही कारण है कि अभी तक इसका वर्गीकरण नहीं हो सका है। कतिपय भाषा-विज्ञानी कोल-भाषा से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं, किन्तु अन्य विद्वान् इसका काकेश प्रान्त की भाषा से सम्बन्ध बतलाते हैं।

इन चारों परिवारों में आस्ट्रिक या निषाद एवं भोट-चीनी भाषाओं का भारत में विशेष महत्त्व नहीं है। जो लोग इन परिवारों की भाषाएँ बोलते हैं उन्हें इनके अतिरिक्त एक आर्य भाषा अवश्य सीखनी पड़ती है, किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं है कि इन भाषाओं का संरक्षण नहीं किया जाय। वस्तुतः जिन लोगों की ये मातृभाषाएँ हैं उन्हें इस बात के लिए उत्साहित करना चाहिए कि वे इन्हें जीवित रखें।

ठीक यही बात साहित्य-विहीन पिछड़ी हुई द्रविड़ भाषा के सम्बन्ध में भी है। जो लोग गोंडी, ओराँव, कन्ध आदि भाषाओं अथवा बोलियों को बोलते हैं उनके लिए भी तेलुगु, उड़िया, हिन्दी, मराठी आदि सुसभ्य द्रविड़ अथवा आर्य भाषाओं में से किसी एक को सीखना आवश्यक है।

दक्षिण की भाषाओं में तमिल और मलयालम भाषा-भाषी एक-दूसरे की भाषा को समझ लेते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में वस्तु-स्थिति यह है कि इन दक्षिण की भाषाओं में कोई एक ऐसी भाषा नहीं है जिसके माध्यम से सभी द्रविड़ भाषा-भाषी अपना काम चला सकें। यहीं पर राष्ट्रभाषा हिन्दी की आवश्यकता पड़ती है। जब ये विभिन्न द्रविड़ भाषा-भाषी पारस्परिक विचार-विनिमय करना चाहते हैं अथवा जब बंगाली, मराठी, पंजाबी, गुजराती, उड़िया, मारवाड़ी, नेपाली, भोजपुरी अथवा असमिया भाषा-भाषी किसी एक स्थान पर मिलते हैं और वे संस्कृत या अंग्रेजी नहीं जानते तो अपने विचार व्यक्त करने के लिए उन्हें हिन्दी का ही सहारा लेना पड़ता है। वास्तव में

भारत जैसे महाराष्ट्र में, राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी एक वरदान है। यद्यपि आज भी शिक्षित लोग अन्तर्प्रान्तीय भाषा के रूप में अंग्रेजी का उपयोग करते हैं तथापि भविष्य में यह स्थिति नहीं रहने वाली है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद आज प्रत्येक भारतवासी इस बात को अनुभव करने लगा है कि अन्तर्प्रान्तीय माध्यम के रूप में अंग्रेजी का उपयोग भारत के स्वाभिमान के प्रतिकूल है। आज से कई वर्ष पूर्व राष्ट्रपिता बापू ने इस बात का भलीभाँति अनुभव किया था। इसी के परिणाम स्वरूप उन्होंने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की सहायता से दक्षिण में राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया था। खादी के उपयोग तथा अस्पृश्यता के निवारण के साथ-साथ राष्ट्रपिता ने प्रत्येक भारतवासी के लिए राष्ट्रभाषा का ज्ञान भी अनिवार्य बतलाया था। इस प्रकार बहुत पहले से ही राष्ट्रभाषा के पद पर हिन्दी आसीन हो चुकी थी, किन्तु स्वतन्त्रता के बाद जब भारत का संविधान स्वीकृत हुआ तो नियमानुकूल हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया गया। यह कार्य भारत की प्रतिष्ठा तथा स्वाभिमान के सर्वथा अनुकूल था।

हिन्दी का विकास तथा उसका महत्त्व

भारत के इतिहास में गंगा-यमुना के बीच की भूमि अत्यधिक पवित्र मानी गई है। अत्यन्त प्राचीन काल से ही हिमालय तथा विन्ध्य-पर्वत के बीच की भूमि आर्यावर्त के नाम से प्रख्यात है। इसी के बीच में मध्य देश है जो भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता का केन्द्र-बिन्दु है। संस्कृत, पालि तथा शौरसेनी प्राकृत इस मध्यदेश की विभिन्न युगों की भाषा थी। आगे चलकर इस प्रदेश में शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार हुआ। यह कथ्य (बोलचाल का) शौरसेनी अपभ्रंश ही कालान्तर में हिन्दी के रूप में परिणत हुआ। किसी समय इस शौरसेनी अपभ्रंश के साहित्यिक रूप का महाराष्ट्र, सिन्धु प्रदेश, पश्चिमी पंजाब, कश्मीर, बिहार, बंगाल तथा नेपाल तक व्यवहार होता था।

तुर्कों के आक्रमण के पूर्व राजपूत राजाओं की सभा में इस साहित्यिक अपभ्रंश की अत्यधिक प्रतिष्ठा थी। इसी को उत्तर काल के राजपूताने के चारण तथा भाट पिंगल भी कहते थे। किन्तु १२-१३वीं शताब्दी में यह अपभ्रंश भी बहुत-कुछ प्राचीन हो चला था, क्योंकि बोलचाल की भाषा तथा इसमें पर्याप्त पार्थक्य हो गया था। तुर्कों की विजय के फल-स्वरूप जब पंजाब से बंगाल तक, राजपूत राज्यों का अन्त हो गया तो इस साहित्यिक अपभ्रंश या पिंगल की मर्यादा का भी हास हुआ।

इसी समय अपभ्रंश की साहित्यिक धारा लोक-भाषाओं में प्रवाहित होने लगी। उत्तर-पश्चिम भारत में यह धारा राजस्थानी, गुजराती तथा मथुरा प्रदेश की ब्रजभाषा तथा आंशिक रूप में पूर्वी हिन्दी की विभाषा कोसली (अवधी) में आई। तुर्कों के आक्रमण का प्रभाव प्रारम्भ में इन लोक-भाषाओं पर नहीं पड़ सका।

सबसे पहले सिन्धु प्रदेश पर अरब वालों ने अधिकार किया था, किन्तु बाद में वहाँ पर इनके राज्य का अन्त हो गया। इधर पश्चिम-उत्तर में सर्वप्रथम गजनिवी राज्य स्थापित हुआ और धीरे-धीरे उसकी सीमा दिल्ली तक पहुँच गई। इस प्रकार सर्वप्रथम तुर्कगण दिल्ली की भाषा के सम्पर्क में आये। यह भाषा पंजाब की भाषा से विशेष साम्य रखती थी।

फ़ारसी बोलने वाले इन तुर्कों के राजदरबार में जब फ़ारसी नहीं बोली जाती थी तो उस समय यह दिल्ली की बोली ही बोलचाल में प्रयुक्त होती थी। इस प्रकार पंजाबी से प्रभावित दिल्ली की इस बोली की महत्ता बढ़ चली। यद्यपि पहले इसमें फ़ारसी शब्द जान-बूझकर नहीं भरे जाते थे फिर भी उसमें फ़ारसी का प्रभाव होना स्वाभाविक ही था। प्रारम्भ में इसमें कोई साहित्य नहीं था। उस समय के लेखकों की साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम डिंगल, ब्रजभाषा, अवधी अथवा मैथिली थी। किन्तु दिल्ली की बोली धीरे-धीरे विकसित होती रही जैसा कि कबीर की रचनाओं (१५वीं शती) में पड़े हुए प्रभाव से स्पष्ट

है। साहित्य में प्रयुक्त होने के लिए यह बोली धीरे-धीरे अग्रसर हो रही थी। इसके लिए १७वीं शती में दक्षिण से प्रेरणा मिली।

१४वीं शती से ही उत्तर भारत के मुसलमान विजेता दक्षिण में प्रविष्ट होने लगे थे, और गोलकुण्डा तथा बीजापुर (१६वीं शती) में उन्होंने उत्तर भारत से स्वतन्त्र एक साहित्यिक भाषा विकसित की, जिसका मूलाधार उन्होंने पंजाबी तथा दिल्ली के आसपास की बोली को रखा। इसी को *दखनी* या *दकनी* कहकर अभिहित किया जाता है। मिश्रित होने के कारण यह *रेख्ता* कहलाती है; स्त्रियों की बोली को *रेख्ती* भी कहा जाता है। दक्षिण से लाकर दिल्ली में इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय औरंगाबाद-निवासी वली को दिया जाता है।

प्रारम्भ से ही दक्षिण की वह बोली फ़ारसी लिपि में लिखी जाती रही; प्रारम्भ में इसका शब्द-समूह भारतीय था, बाद में धीरे-धीरे वह फ़ारसी से प्रभावित होने लगा। इस प्रकार दकनी ने कथावस्तु तथा विधान दोनों ही दृष्टियों से फ़ारसी साहित्य को अपना आदर्श माना। १७वीं शती के अन्त में दकनी बोली का प्रभाव दिल्ली की भाषा पर भी पड़ा। दिल्ली की भाषा ब्रजभाषा के साथ-साथ *हिदवी*, *हिंदी* या *हिद्दी* कहलाती थी। यह बोली जब १७वीं शती में मुग़ल सेनाओं के साथ-साथ दक्षिण में पहुँची तो वहाँ उसे 'ज़बाने-उर्दू-ए-मुअल्ला' या 'शाही तम्बू की भाषा' या 'शाही दरबार की भाषा' कहा गया। बाद में १८वीं शती के उत्तरार्द्ध में यह नाम संक्षिप्त होकर 'ज़बाने-उर्दू' और फिर बाद में केवल 'उर्दू' रह गया। उत्तर भारत के मुसलमानों ने दकनी को साहित्यिक भाषा का पूर्ण रूप दे दिया और साहित्य में प्रयुक्त होने वाली उर्दू १८वीं शती में अस्तित्व में आई। मुग़ल अभी तक ब्रजभाषा का प्रयोग करते थे, परन्तु बाद में उन्होंने इस दिल्ली की बोली को अपनाया।

उत्तर भारत के हिन्दुओं ने पहले तो इस दिल्ली की बोली को 'यामनी' या 'यावनी' कहकर तिरस्कृत किया, परन्तु फिर मुग़ल दरबार

६ उत्तरोत्तर बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप उन्होंने उसका प्रयोग करना प्रारम्भ किया। परन्तु जब वे उसमें कुछ साहित्य-रचना करते थे तो उनका मुकाब स्वभावतः हिन्दी के तद्भव तथा संस्कृत शब्द-समूह की ओर अधिक रहता था। इसे लिखने के समय वे नागरी लिपि का प्रयोग करते थे। दिल्ली का जब एक राजघराना लखनऊ में आकर बस गया तो इस बोली का क्षेत्र और भी विस्तृत हुआ और पूर्व में कलकत्ता तक इसकी सत्ता प्रतिष्ठित हुई। १७वीं शती के अन्त में दखनी से भेजता प्रकट करने के लिए इस दिल्ली की बोली को हिन्दोस्तानी या हिन्दुस्तानी नाम दिया गया, जिसके पर्सियन 'स्तानी' को संस्कृत स्थानी' से बदलकर लोगों ने उसे हिन्दुस्थानी बना लिया। १९वीं शती ६ प्रारम्भ में इस दिल्ली की बोली को खड़ी बोली कहा जाने लगा। व्रजभाषा के माधुर्य के प्रतिकूल इसकी अपेक्षाकृत कर्ण-कटुता को देख-कर ही इसे यह नाम दिया गया होगा। इस प्रकार उत्तर भारत की ही एक बोली दक्षिण में जाकर, साहित्यिक रूप ग्रहण कर बाद में फिर उत्तर भारत में हिन्दी एवं उर्दू के रूप में स्थापित हुई। इस प्रकार प्राधुनिक हिन्दी का मूलाधार दिल्ली के आसपास मेरठ-बिजनौर की बोली को ही माना जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी की अपेक्षा खड़ी बोली उर्दू का व्यवहार पहले होने लगा था।

खड़ी बोली की प्रतिष्ठा

१८वीं शती में व्रजभाषा की शक्ति क्षीण हो चुकी थी; साथ ही मुसलमानों के बीच खड़ी बोली उर्दू ज़ोर पकड़ चुकी थी। १९वीं शती ५ आरम्भ में अंग्रेज़ी अधिकारियों ने, जिनमें जॉन गिलक्राइस्ट का नाम मुख है, हिन्दुओं के लिए खड़ी बोली गद्य के सम्बन्ध में कुछ प्रयोग करवाए जिनके फलस्वरूप फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में लल्लूलाल ने 'प्रेम-नागर' तथा सदाश मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। प्रारम्भ के

एन खड़ी बोली के ग्रन्थों पर ब्रजभाषा का प्रभाव रहना स्वाभाविक है। 'प्रेमसागर' में तो ब्रजभाषा के प्रयोग बहुत अधिक पाए जाते हैं। खड़ी-बोली हिन्दी का गद्य-साहित्य में प्रचार १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में हुआ, और इसका श्रेय साहित्य के क्षेत्र में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा र्म के क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती को है। मुद्रण-कला के साथ-साथ खड़ी बोली हिन्दी का प्रचार बहुत तेज़ी से बढ़ा। १९वीं शती तक पद्य में प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग होता रहा, किन्तु २०वीं शती में प्राते-आते खड़ी बोली हिन्दी सम्पूर्ण मध्यदेश की, गद्य और पद्य दोनों की, एकमात्र साहित्यिक भाषा हो गई। खड़ी बोली पद्य के आरम्भ में कवियों की भाषा में भी लल्लूलाल आदि प्रथम गद्य-लेखकों समान ब्रजभाषा की झलक पर्याप्त है। इस प्रकार गत डेढ़-दो सौ वर्षों साहित्यिक खड़ी बोली हिन्दी मेरठ-बिजनौर की जनता की खड़ी बोली स्वतन्त्र होकर अपने ढंग से विकास को प्राप्त हो रही है। स्वाभाविक बोली के प्रभाव से पृथक् हो जाने के कारण इसके व्याकरण का ढाँचा था शब्द-समूह निराला होता है। तो भी अभी तक आधुनिक हिंदी व्याकरण का स्वरूप मेरठ-बिजनौर की खड़ी बोली से बहुत अधिक भेन्न नहीं हो पाया है। भेद की अपेक्षा साम्य की मात्रा विशेष है।

इस प्रकार संस्कृत से लेकर आधुनिक खड़ी बोली हिंदी तक के विकास को इस रूप में समझा जा सकता है—

संस्कृत—पाली—शौरसेनी प्राकृत—शौरसेनी अपभ्रंश या पश्चिमी अपभ्रंश—ब्रजभाषा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा पूर्वी पंजाब की बोली (मेरठ-बिजनौर की खड़ी बोली)—आधुनिक खड़ी बोली हिंदी।

इस विकास-क्रम को समझते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि कोई भी एक भाषा दूसरी भाषा से नहीं निकली है; वस्तुतः यह एक ही बोलचाल की कथ्य भाषा है जो विभिन्न परिस्थितियों के प्रभाव से स्थान-स्थान पर साहित्यिक भाषा को जन्म देती हुई अबाध गति से आगे बढ़ती रही है।

विभिन्न नाम

दखनी या दकनी—दक्षिण में ले जाई गई दिल्ली की बोली जो बाद में अपने साहित्यिक रूप में फिर दिल्ली में आकर प्रतिष्ठित हो गई।

रेख्ता तथा रेखती—उक्त दखनी या दकनी अपने मिश्रित स्वरूप के कारण रेखता कहलाती है। स्त्रियों की बोली रेखती कही जाती है।

उर्दू—‘उर्दू’ शब्द तुर्की भाषा का है जिसका अर्थ है शाही पढ़ाव। वस्तुतः उर्दू दिल्ली के आसपास बोली जाने वाली, पंजाबी से कुछ प्रभावित वह भाषा है जिसका प्रयोग दिल्ली के शासकगण साधारण जनता से बोलचाल के लिए करते रहे। इस प्रकार उर्दू का जन्म शाही पढ़ाव या खेमों में ही हुआ।

हिन्दी, हिन्दवी, हिन्दूवी—व्रजभाषा और हिंदुओं द्वारा प्रयुक्त दिल्ली की वह बोली जिसमें फ़ारसी प्रभाव नहीं था तथा जो नागरी लिपि में लिखी जाती थी।

हिन्दुस्तानी, हिन्दोस्तानी या हिन्दुस्थानी—दखनी से भिन्नता प्रतिपादित करने के लिए उत्तर भारत की बोली को दिये गए इन नामों में से प्रथम दो अंग्रेजों के मस्तिष्क की उपज हैं। हिन्दुस्थानी ‘हिन्दु-स्तानी’ का ही भारतीय प्रतिरूप है।

खड़ी बोली—दिल्ली के आस-पास बोली जाने वाली मेरठ-बिजनौर की बोली को, जो व्रजभाषा की अपेक्षा कर्ण-कटु थी, यह नाम दिया गया।

राष्ट्रभाषा हिन्दी

भारतीय संविधान के अनुसार नागरी लिपि में लिखी हुई हिंदी भारत की राष्ट्र-भाषा घोषित की जा चुकी है। इस सम्बन्ध में अब और कुछ कहना शायद अप्रासंगिक तथा असंगत होगा, पर इसके स्वरूप के सम्बन्ध में साधारण जनता में ही नहीं वरन् विद्वानों में भी जो भ्रम फैले हुए हैं उनके निवारणार्थ यहाँ दो-एक बातों का उल्लेख आवश्यक है।

व्यावहारिक दृष्टि से किसी भाषा-विशेष के तीन पक्ष होंगे—

(१) लिपि, (२) व्याकरण, और (३) शब्द-समूह ।

(१) लिपि—राष्ट्रभाषा हिन्दी की लिपि नागरी मानी जा चुकी है । नागरी की श्रेष्ठता के सम्बन्ध में युक्तियों का देना अनावश्यक है । यहाँ इतना कहना ही अलम् होगा कि चातुर्वर्ग्य-जैसं भारतीय विद्वानों ने तथा स्तुतवाँ आदि अनेक विदेशी भाषा-विज्ञानियों ने नागरी को सर्व-गुण सम्पन्न एवं सबसे अधिक वैज्ञानिक लिपि कहा है ।

(२) व्याकरण—राष्ट्रभाषा हिन्दी का व्याकरण मूलतः मेरठ-बिजनौर की खड़ी बोली के व्याकरण पर आधारित है । इसके नियमों में ढिलाई लाना वस्तुतः हिन्दी भाषा के रूप को विकृत करना होगा ।

(३) शब्द-समूह—व्यावहारिक दृष्टिकोण से कदाचित् शब्द-समूह भाषा-विशेष का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है । राष्ट्रभाषा हिन्दी के शब्द-समूह के सम्बन्ध में दो-एक बातों का स्पष्टीकरण आवश्यक है ।

(i) राष्ट्रभाषा हिन्दी निश्चित रूप से संस्कृतनिष्ठ होनी चाहिए, क्योंकि बंगाली, मराठी आदि अन्य प्रान्तीय भाषाओं और हिन्दी के बीच यह संस्कृत-शब्द-समूह ही एक मिलन-शृंखला है । संस्कृतनिष्ठ होने पर ही हिन्दी आर्य-भाषा-भाषी और द्रविड़-भाषा-भाषी प्रान्तों में समझी जा सकती है । उच्च संस्कृति के शब्द (culture-words) तो निश्चित रूप से संस्कृत से ही आने चाहिये ।

(ii) परन्तु हिन्दी-शब्द-समूह में संस्कृत का आग्रह नहीं होना चाहिए । ऐसा होने से भाषा में कृत्रिमता और दुरुहता आ जायगी । इसके लिए आवश्यक है कि नित्यप्रति की बोलचाल के तद्भव शब्दों को अधिकाधिक प्रश्रय देना चाहिए । वैज्ञानिक शब्दावली में भी कुछ तद्भव एवं ग्रामीण बोलियों के शब्द आसानी से खप सकते हैं । इस प्रकार के शब्द हमारी भाषा की वास्तविक सम्पत्ति हैं । इनको हिन्दी में मिलाने से ही उसका कोष व्यापक एवं सर्वार्थप्रद हो सकेगा । जहाँ पर इस प्रकार के देशी शब्द न मिल सकें वहाँ उनके लिए संस्कृत से शब्द लेने

चाहिँ, अथवा संस्कृत के आधार पर नये शब्द गढ़ने चाहिँ ।

(iii) फारसी तथा अँग्रेजी-जैसी विदेशी भाषाओं के वे शब्द जो हमारी भाषा में बस गए हैं, हमारी भाषा की प्रकृति के अनुकूल हो गए हैं, उनको हमें तिरस्कृत न करना चाहिँ । वस्तुतः विदेशी भाषाओं के अनिवार्य शब्द हिन्दी में आने चाहिँ, परन्तु उन्हें अपनी भाषा में मिलाने के लिए हमें उनमें उचित ध्वन्यात्मक परिवर्तन करना होगा।

लिपि

हिन्दी देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और लिखी जानी चाहिँ । जैसा कि पहले कहा जा चुका है, नागरी लिपि की वैज्ञानिकता की प्रशंसा देशी और विदेशी सभी विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से की है ।

प्राचीन भारत में दो लिपियाँ प्रचलित थीं—पश्चिमोत्तर भारत में खरोष्ठी तथा शेष भारत में ब्राह्मी लिपि । खरोष्ठी लिपि जो दाहिने से बाईं ओर लिखी जाती थी, निश्चित रूप से विदेशी लिपि थी, और सेमेटिक से सम्बन्ध थी । ब्राह्मी लिपि भी जो भारत की राष्ट्रीय लिपि थी, कुछ यूरोपीय विद्वानों के अनुसार सेमेटिक उद्गम थी, किन्तु ओम्काजी आदि अधिकांश विद्वानों का मत यह है कि इसका आविष्कार भारतवर्ष में ही भारतीय प्रतिभा के द्वारा हुआ था । आगे चलकर ब्राह्मी लिपि की दो प्रधान शैलियाँ हो गई थीं—

(१) उत्तर भारत की शैली, जिसके अन्तर्गत मध्यकाल की गुप्त लिपि तथा कुटिल लिपि आती हैं । अन्तिम से आधुनिक काल में उत्तर भारत की समस्त लिपियाँ, जिनमें देवनागरी भी सम्मिलित है, विकसित हुईं ।

(२) ब्राह्मी की दक्षिण की शैली से दक्षिण की समस्त लिपियाँ विकसित हुईं, जैसे ग्रन्थ लिपि, तमिल लिपि, तेलुगु लिपि, इत्यादि ।

नवीनतम मतों के अनुसार कुछ विद्वान् ब्राह्मी लिपि का सम्बन्ध मोहंजोदारो और हड़प्पा में उपलब्ध लेखों की लिपि से जोड़ते हैं । परन्तु विद्वानों का बहुमत इस पक्ष में नहीं है । उनके अनुसार उक्त लिपि

का ब्राह्मी से कोई सम्बन्ध नहीं; वे उसे सुमेरी लिपि से सम्बन्धित बताते हैं।

भारतीय भाषाओं को अंकित करने के लिए डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इंडोरोमन नाम का रोमन लिपि का ही एक संशोधित रूप उपस्थित किया है (यद्यपि इस सुझाव के अस्वीकृत होने पर वे भी देवनागरी को ही अपनाने के पक्ष में हैं), पर इसके भारतीय जनता द्वारा स्वीकृत होने की कोई सम्भावना नहीं प्रतीत होती है। वस्तुतः भारत की राष्ट्र-लिपि देवनागरी ही है।

परिशिष्ट

हिन्दी के प्रमुख रूपों और बोलियों के उदाहरण

(१) ब्रज—मीतरौल एक गाम है। बामें एक दिनाँ फौज ने पड़ाव डार्यौ। फौज के संग तोपखानोंऊँ ओ। गाम के मानिख बाको तमासौ देखिबे चले आए। फौजबारे ते बोले—“जि कहाँऐ?” फौजीन् नै कही कै जि तोप ऐ। गाँमबारे बोले—जिनले कहा होतु ऐ? फौजबारे ने कही—इनन्नें चलाइ कै लड़ाई लड़ी जाति ए।

(२) अवधी—याक घरे माँ कथा कही जात रही। पंडित जौन कथा कहत रहें सगरे गाँव का न्योतिन रहें। सुनवैयन माँ याक अहिरौ आवत रहै। ऊ कथवा सुनती बेरा रवावा बहुत करै, औ पंडितौ वहि का प्रेमी जान कै वहि का नीकी तना बैठावै औ खूब खातिर करै।

(३) ग्रामीण खड़ी बोली—कोई बादसा था। साब उसके दो राख्यौ थी। एक के तो दो लड़के थे और एक के एक। वो एक रोज अपनी रान्नी से केने लगा मेरे समान और कोई बादसा है बी? तो बड़ी बोल्ले के राजा तुम समान और कोन होगगा, जेस्सा तुम वेस्सा और कोई नई। छोट्टी से पुच्छा के तुम बी बतला मुज समान कोई और बी राजा है के नई? कि राजा मुजसे मत बुझो।

(४) हिन्दुस्तानी—सन् १८५७ ई० के गदर में खास करके सिपाही

लोग शरीक हुए थे । कहीं-कहीं, जैसे अवध में, आम लोग भी शरीक हुए थे । उन्हें डर इस बात का था कि अंग्रेजी सरकार उनकी जाति नाश करने की कोशिश कर रही है । उनका मतलब यह कभी न था कि वे अंग्रेजों से इस देश को जीत लेवें और अपनी रियासत कायम करें ।

(५) साहित्यिक हिन्दी—कुछ विद्वानों का यह आक्षेप है कि शरत् ने अपनी कृतियों में उन्हीं पुरुष पात्रों को चित्रित किया है जो नारी-हृदय की महत्ता का शिकार हो चुके हैं; और यह अनुचित है । परन्तु यह धारणा बहुत अधिक समीचीन नहीं कही जा सकती, क्योंकि आज के सामाजिक जीवन में भले ही पुरुष की महत्ता नारी से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हो, फिर भी स्वयं पुरुष के ही निर्माण में नारी का बहुत बड़ा हाथ है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

(६) उर्दू—हमारे पेट की नामुराद सड़कों की भी मरम्मत हो और हमारे टूटे हुए दिलों पर भी इमारतें चुनवाओ । हम भी पुराने ज़माने की निशानियाँ हैं । हमको भी ज़िन्दा आसार क़दीम में लोग समझते हैं । हमको भी सहारा दो, मिटने से बचाओ । खुदा तुमको सहारा देगा और बचाएगा ।

हिन्दी साहित्य

‘सहितस्य भावं साहित्यम्’ के अनुसार ज्ञानराशि के सूचित कोष का नाम ‘साहित्य’ है। परन्तु यह परिभाषा बहुत ही व्यापक है। प्राचीन शास्त्रों में इस अर्थ में ‘वाङ्मय’ शब्द का प्रयोग किया गया है और ‘साहित्य’ को ‘काव्य’ के अनुसूचक रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः साहित्य का जगत् भावना और कल्पना का जगत् है। इस भावना तथा कल्पना को मनुष्य एक-दूसरे को वाणी द्वारा बतलाने की चेष्टा करते हैं। आदिकाल से ही मानव-समाज में अभिव्यञ्जना-शक्ति चली आई है। इसी शक्ति की प्रेरणा से साहित्य की रचना होती है। अतः आचार्य श्यामसुन्दरदास के मतानुसार हम कह सकते हैं — “मनुष्य की इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से ज्ञान और आनन्द के उस भाण्डार का सृजन, सञ्चय और संवर्द्धन होता है जिसे हम साहित्य कहते हैं।” समष्टि रूप में साहित्य मानवता का दर्पण है। अतः मानव-समाज की चित्तवृत्तियों का ही इसमें प्रमुख स्थान होता है तथा इन्हीं का स्पष्ट प्रतिबिम्ब हम साहित्य में पाते हैं। समाज परिस्थितियों का दास है। प्रत्येक देश की जनता अपनी तात्कालिक राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों से ही प्रभावित होकर एक ही प्रकार की विचारधारा से प्रेरित रहती है, और इन्हीं के द्वारा समाज की चित्तवृत्तियों में परिवर्तन होता है। इनसे ही साहित्यकारों की रुचि, उनकी लेखनी, भावों एवं कल्पनाओं में भी क्रान्ति उपस्थित होती है। अतः जनता की चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में परिवर्तन होता चलता है। उदाहरणार्थ यवन आक्रमण ने वीर-रसपूर्ण कविताओं को जन्म दिया। तत्पश्चात् धार्मिक परिस्थितियाँ कबीर एवं

जायसी की सुधारवादी भक्तिपूर्ण काव्यधारा का कारण हुई तथा मुगल-कालीन विलासिता से रीतिकाल विकसित हुआ। अतः “आदि से अन्त तक मानव-समाज की इन्हीं विचारधाराओं की परम्परा को परखते हुए उनका साहित्य के साथ सामञ्जस्य या मेल दिखलाने वाली रचना ही ‘साहित्य का इतिहास’ कहलाती है।”

विश्व के प्रत्येक सभ्य देश का साहित्य स्वतन्त्र रूप से विकसित हुआ है। जिस प्रकार हमारी संस्कृति आदि काल से ही मौलिक रही है उसी भाँति भारतीय साहित्य का भी विकास अन्यान्य कलाओं के साथ स्वतन्त्र तथा मौलिक रूप से हुआ है। हिन्दी-साहित्य पर भी इस मौलिकता की स्पष्ट छाप है और अपने अन्दर स्थित समन्वय की भावना की विशेषता के कारण ही संसार के अन्य साहित्यों के समक्ष वह अपनी विजय-वैजयन्ती पहराने में समर्थ है। हमारे यहाँ साहित्य में वर्णित सुख-दुख, हर्ष-शोक, उत्थान एवं पतन इत्यादि के प्रबल घात-प्रतिघातों का अन्त आनन्द में ही किया गया है। यहाँ साहित्य पर आध्यात्मिक तथा लौकिक विचारों की गहरी छाप है। अतः साहित्य में भी हमें आदर्शवादिता के ही दर्शन होते हैं, और वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की ओर विशेष ध्यान गया है। हिन्दी-साहित्य ने शैशवावस्था से ही भारतीय संस्कृति तथा सभ्यता की रक्षा की है। जिस भाँति भारतीय दर्शन का प्रधान ध्येय कैवल्य की प्राप्ति रहा है उसी भाँति हिन्दी-साहित्य में भी मानव-हृदय के ‘सत्यं शिवं सुन्दरम्’ की अभिव्यंजना तथा भारत के जातीय जीवन की अभिव्यक्ति है। देश की भौगोलिक स्थिति का भी हिन्दी साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा है और इसी के कारण प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र मार्मिकता तथा उत्तमता से अंकित किये गए हैं। इस साहित्य में भारतीय संगीत का भी समावेश है और स्वरों तथा लयों का अद्भुत सामञ्जस्य प्रदर्शित किया गया है।

ऊपर हम कह चुके हैं कि जनता की चित्तवृत्ति की संचित राशि को

ही साहित्य कहते हैं, अतः जनता की विचार-धारा के अनुसार हिन्दी-साहित्य का स्वरूप भी परिवर्तित होता रहा है। इस दृष्टि से हिन्दी-साहित्य को प्रारम्भ से अब तक चार कालों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) वीरगाथा-काल	संवत् १००० से १४०० तक
(२) भक्ति-काल	संवत् १४०० से १७०० तक
(३) रीति-काल	संवत् १७०० से १८०० तक
(४) आधुनिक काल	संवत् १८०० से अब तक

इन कालों के नामकरण से यह नहीं समझना चाहिए कि उपर्युक्त विभिन्न कालों में अन्य प्रकार की रचनाएँ हुई ही नहीं और काल-विभाजन की ये तिथियाँ अकाल्य हैं। पर इतना तो अवश्य है कि किसी काल-विशेष में एक प्रकार की प्रवृत्ति की प्रधानता अन्य प्रवृत्तियों के वेग को क्षीण कर देती थी। साहित्य के इतिहास का यह काल-विभाजन आरम्भिक अध्ययन की दृष्टि से बड़ा सहायक होता है। कुछ लोग हिन्दी के आदि युग का आरम्भ संवत् ७०० से मानते हैं और अपने मत की पुष्टि में एक अलंकार ग्रन्थ का उल्लेख करते हैं जो अप्राप्य है। पर एक लक्षण-ग्रन्थ को किसी साहित्य की शैशवावस्था की पहली पुस्तक मानना और उसके पश्चात् दो-तीन सौ वर्षों तक हिन्दी में किसी पुस्तक का न लिखा जाना, ये दोनों बातें बेतुकी जान पड़ती हैं। भाषाएँ एक रूप से दूसरे रूप में धीरे-धीरे विकसित होती हैं। उनके बीच में कोई स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। साहित्य के प्राङ्गण में आने के पूर्व न जाने कितने समय तक भाषा बोलचाल के रूप में चलती रहती है। साहित्य में प्रवेश करने पर उसका परिवर्तन मन्द पड़ जाता है और उसके इस संक्रमण-काल में प्राचीन साहित्यिक भाषा भी चलती रहती है। अतः एक-दूसरे का आदि-अन्त परस्पर में पूरक होकर भ्रमोत्पादक होता है। अप्रभ्रंश का अन्त तथा हिन्दी की उत्पत्ति दोनों के मध्य यही भ्रम उपस्थित हो जाता है। हिन्दी की उत्पत्ति अप्रभ्रंश से

ही है और इसका समय हम विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी निर्धारित कर सकते हैं, क्योंकि इसी समय से हम हिन्दी-साहित्य की अटूट श्रृंखला पाते हैं। पर यह समय हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश करने का है, कथ्य भाषा का नहीं।

वीरगाथा-काल

हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् बौद्ध धर्म अवनति के मार्ग पर अग्रसर हुआ और वज्रयान-सम्प्रदाय के रूप में जनता के सामने आया। इस समय बौद्धतान्त्रिकों की परम्परा चली थी जो वामाचार को अपनाये हुए थे। यद्यपि देश में एक राजनैतिक उथल-पुथल मची हुई थी फिर भी एक ऐसी धारा बही जो आध्यात्मिकता का पुट लिये हुए थी, तथा जो वीरता तथा ओज को ताक पर रखे थी। इस संक्रमण-काल की रचना अपभ्रंश-मिश्रित देशभाषा में हुई। चौरासी सिद्धों का प्रादुर्भाव इसी युग में हुआ और सरहपा, लूहपा इत्यादि प्रसिद्ध सिद्ध हुए। बौद्ध धर्म के महायान-शाखा तथा शैव-सम्प्रदाय के सम्मिश्रण से यह शाखा चली थी। इन्होंने उस अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया जो हिन्दी के लिए अपना आसन रिक्त कर रही थी। यद्यपि नाथपन्थी गोरखनाथ भी इन्हीं सिद्धों की शाखा में गिनाये गए हैं पर वामाचार को छोड़कर इन्होंने विशुद्ध योगयुक्त शैवमार्ग को अपनाया। इन्होंने अपनी रचना के लिए खड़ी बोली के पुष्ट के साथ राजस्थानी को ही ग्रहण किया, जिसे सधुक्कड़ी भाषा भी कहते हैं तथा गद्य और पद्य दोनों में रचना की। साखी और बानी पद्धति को ये अपनाने वाले थे। इनकी रचना का उदाहरण—

‘अवधू रहिया हाटे वाटे रूप विरष की छाया’ !

इस काल में जैन-साहित्य की भी रचना हुई जिसके मुख्य कवि सोम-प्रभसूरि तथा आचार्य मेरुतुंग हुए। हेमचन्द्र तथा हम्मीर रासो के

तथा रौंदने की धुन लगाई तो राजपूतों ने उनके साथ लोहा लिया । पर उनमें भी आपस में सदैव वैमनस्य रहा करता था तथा चारों ओर गृह-युद्ध भी हो रहे थे । अतः देश-काल की परिस्थिति के अनुसार कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के रण-कौशल का विशद वर्णन तथा उनके भुजदण्डों को फड़काने वाली वीर-रस-प्रधान कविता की । अतः यह काल वीरगाथा-काल कहा जाता है । इस काल में देश में युद्ध की ही ध्वनि प्रधान रूप से व्याप्त होने के कारण वीरोत्तलासिनी कविताओं की ही गूँज रही । इस युग के कवि राष्ट्रीय भावनाओं से ही प्रेरित होकर अपनी रचनाएँ करते थे और देशानुराग के कारण न केवल वे अपनी ओजपूर्ण वाणी द्वारा अपने आश्रयदाताओं को युद्ध-भूमि के लिए प्रोत्साहित ही करते थे, प्रत्युत स्वयं हाथ में तलवार लेकर रण-प्राङ्गण में पदार्पण भी करते थे । पर इस युग की कृतियों में इतिहास-सम्मत घटनाओं तथा उच्च प्रकार के कवित्व का अभाव है, क्योंकि आश्रयदाताओं की प्रशंसा के हेतु काव्य-धारा को इन कवियों ने संकीर्ण तथा संकुचित क्षेत्र के अन्दर ही बहाया । यद्यपि इन कवियों की कृतियों में मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण व्याख्या हम नहीं पाते हैं फिर भी अनेक रमणीय सूक्तियों तथा उद्भावनाओं के कारण युद्ध-वर्णन इतना सजीव है कि कविता से शस्त्रों की झंकार स्पष्ट सुनाई पड़ती है । इन काव्यों में शृङ्गार का भी थोड़ा सम्मिश्रण रहा है, पर गौण रूप में ।

साहित्य की दृष्टि से यह काल दो भागों में विभाजित है—चारणों का 'वीर-रसात्मक साहित्य' और अन्यान्य कवियों का 'शृङ्गार नीति आदि विविध विषयों का साहित्य' । शैली की दृष्टि से यह प्रबन्ध-काव्य, रीति-काव्य तथा मुक्तक इन तीनों भागों में बाँटा जा सकता है । इस काल के साहित्य को प्रायः 'रासो' नाम दिया गया है, जिसकी व्युत्पत्ति कुछ लोगों के मतानुसार 'रहस्य' या रसायन से है, किन्तु वास्तव में इसकी उत्पत्ति 'रास' शब्द से हुई है ।

'प्रबन्ध' के रूप में वीरकविता करने की प्रणाली प्रायः सभी साहित्यों

में चिरकाल से चली आ रही है। हिन्दी की वीरगाथाओं में 'खुमान रासो' प्रबन्ध रूप से सबसे प्राचीन तथा प्रथम ग्रन्थ है। इसके रचयिता दलपति विजय माने जाते हैं, यद्यपि 'शिवसिंह सरोज' के मतानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने इस ग्रन्थ को लिखा था। चित्तौड़ में खुमान नाम के तीन राजा हुए। कर्नल टाड ने उनको एक माना है। खुमान ने चौबीस युद्ध किये। प्रस्तुत पुस्तक में खलीफा अलमामू के साथ खुमान के युद्धों का वर्णन है। चूँकि इस पुस्तक में महाराणा प्रताप तक का वर्णन है अतः इस पुस्तक को वर्तमान रूप विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। इस पुस्तक की जो प्रति प्राप्त है वह अपूर्ण है। अतएव इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पृथ्वीराज रासो समस्त वीरगाथा-युग की सबसे अधिक महत्वपूर्ण रचना है। इसके रचयिता चन्दबरदाई तथा इसी ग्रन्थ के अनुसार उनके पुत्र जलहण भी माने जाते हैं। चन्दबरदाई का समय सामान्यतः सं० १२२५ से १२४६ तक माना जाता है, क्योंकि ये पृथ्वीराज चौहान के सामन्त, सखा और राजकवि थे। महाराज पृथ्वीराज हिंदू जगत् के अस्तमनवेला के सूर्य थे और चन्दबरदाई हिन्दी जगत् के उदयकालीन चन्द्र। यह ठाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें ६६ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। इस ग्रंथ में आबू के यज्ञ-कुण्ड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति तथा पृथ्वीराज के जीवन का विचित्र वर्णन है। 'पृथ्वीराज रासो' के जाली होने तथा रचना-काल निर्धारण के लिए अनेकों मत प्रचलित हैं। इसमें वर्णित घटनाएँ तथा संवत् इतिहास-सम्मत तथा कल्पना-मात्र होने से, और भाषा असामयिक तथा मिश्रित होने के कारण रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द जी ओम्हा इसको १६-१७वीं शती की रचना मानते हैं। महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री, राजा मुरारीदान, डॉक्टर बुलर, श्री अमृतलाल शील आदि भी इसे अप्रामाणिक मानते हैं। पर पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने रासो के संवत्तों में ६० वर्ष का अन्तर दिखाकर इसे प्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

कर्नल टाड तथा मिश्रबन्धु आदि इसे प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। आचार्य शुक्लजी ने भाषा अव्यवस्थित होने के कारण अपना कोई मत स्थिर नहीं किया है। कुछ भी हो वर्तमान रूप में पृथ्वीराज रासो में प्रसिद्ध अंश बहुत अधिक है, पर साथ ही उसमें बीच-बीच में चन्द के छन्द बिखरे पड़े हैं और यह निश्चित जान पड़ता है कि वर्तमान रासो चन्द रचित छन्दों का संकलित एवं सम्पादित रूप है।

इस ग्रन्थ में न तो कोई एक प्रधान युद्ध है और न किसी महान् परिणाम का ही उल्लेख है। पृथ्वीराज की पूर्व परम्परा का हाल लिखकर कवि उसकी जीवनी को ही अपने ग्रन्थ का प्रधान विषय बनाता है और प्रासंगिक रीति से तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का दिग्दर्शन भी कराता है। यह सत्य है कि यह एक विशालकाय ग्रन्थ है तथा अन्य महाकाव्यों की भाँति इसमें भी युद्ध को ही प्रधानता प्रदान की गई है फिर भी व्यापक तथा गम्भीर रीति से जातीय चित्तवृत्तियों का अभाव होने से हम इसे महाकाव्य होने का गौरव नहीं प्राप्त करा सकते। वीरगाथाओं की यही विशेषता रही है कि उनमें शृङ्गार कभी-कभी वीरता का सहकारी और कभी उसका उत्पादक बनकर आया है और सर्वदा यह गौण रूप से विद्यमान रहा है। अतः 'रासो' में भी युद्धों की प्रधानता के साथ ही शृङ्गार की भी प्रचुरता है। पृथ्वीराज के जीवन में अनंगपाल द्वारा गोद लिये जाने, राजा जयचन्द से विद्वेष, संयोगिता-हरण, शहाबुद्दीन गोरी से अनेकों युद्धों का, ऐतिहासिक तत्त्वों पर अवलम्बित बड़ा ही सजीव तथा मार्मिक वर्णन इस ग्रन्थ में पाया जाता है। जीवन-गाथा होने से वीर गीतों की भाँति संकीर्णता एवं वर्णनों की एकरूपता का इसमें सर्वथा अभाव है तथा वीर भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति, सूक्तियों, स्वभावोक्तियों तथा माधुर्य रसपूर्ण कल्पनाओं का प्रचुर समावेश है। नखशिख-वर्णन, षड्भूत-वर्णन संयोग-वियोग, शृङ्गार एवं वीर आदि रसों का वर्णन भी इसमें पाया जाता है।

भाषा की दृष्टि से इसमें बोलचाल की अपेक्षा साहित्यिक राजस्थानी

व ब्रजभाषा का पर्याप्त पुट प्रतीत होता है तथा यह अपने समय की सुन्दर तथा सुव्यवस्थित भाषा है। अपने समय में प्रचलित कवित्त, छप्पय, दूहा, तोमर, शादूलवि क्रीडित, खग्धरा, त्रोटक, गाहा और आर्या आदि अनेकों मात्रिक व वार्षिक छंदों का प्रयोग इसमें किया गया है और शैली को समन्वय रखकर हम इसे 'प्रबन्ध-महाकाव्य' के रूप में देखते हैं। काव्य-कला-कौशल, विविध रसों का परिपाक तथा वर्णन का सौन्दर्य इसमें सर्वथा सराहनीय है। अतः इस ग्रन्थ में एक उत्कृष्ट काव्य के सभी गुण उपलब्ध हैं।

प्रबन्ध-काव्यों की परम्परा और भी आगे चली थी जिसमें जयचन्द प्रकाश के रचयिता भट्टकेदार, 'जयमयंकजसचन्द्रिका' के रचयिता मधुकर, 'हम्मीरकाव्य' के लेखक सारंगधर, 'विजयपालरासो' के निर्माता नल्लसिंह तथा 'रणमल्ल छन्द' नामक काव्य के लेखक श्रीधर इत्यादि हुए। इस धारा की और पुस्तकें अप्राप्य हैं।

प्रबन्धमूलक वीर काव्यों के अतिरिक्त वीर-गीतों की भी रचनाएँ इस काल में हुईं। मुक्त-प्रवाह वाले तथा ओजपूर्ण ये वीर-गीत जनता द्वारा अपनाये गए। इनमें वीर भावों की ही अधिकता रही, पर वीरों की कोमल मनोवृत्तियों के प्रदर्शनार्थ उनमें शृंगार के पुट लिये हुए भी वर्णन हुए। इसी शैली पर नरपतिनाल्ह नामक किसी कवि ने 'वीसलदेव रासो' नामक चार सगों का एक छोटा सा ग्रन्थ लिखा। इस रचना में अजमेर के महाराज विग्रहराज चतुर्थ उपनाम वीसलदेव का वर्णन है। इनके समय के विषय में मतभेद है, पर यह निश्चय-सा ही है कि इनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी है। इस ग्रन्थ के निर्माण-काल के विषय में भी गहरा मतभेद है। इसमें निर्माण-काल यों दिया है—

वारह सै बहतरा मैंभारि। जेठ वदी नवमी बुधवारि।

नाल्ह रसायण आरम्भई। सारदा तूटी ब्रह्म कुमारि॥

कुछ लोग इस 'वृहतरा' का अर्थ संवत् १२१२ लगाते हैं, क्योंकि

ठसी में जेठ बदी नवमी को बुधवार पड़ता है। शुक्लजी भी यही मानते हैं। पर लाला सीताराम तथा आचार्य श्यामसुन्दर दासजी इसे संवत् १२७२ मानते हैं। घटनाओं के आधार पर हम इसे एक प्रेमपूर्ण गीति-काव्य कह सकते हैं, क्योंकि इसमें शृंगार रस के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का प्रदर्शन है। पर वीर-गाथाओं में मानव-जीवन की हृदयस्थ कोमल वृत्तियों का रहना भी अनिवार्य है, अतः प्रेम-प्रधान होने पर भी हम इसे वीर-गीत कहे जाने का गौरव प्रदान कर सकते हैं। इस पुस्तक की भाषा तत्कालीन बोलचाल की 'राजस्थानी' है।

वीर गीतों की परम्परा में जगनिक-कृत 'आल्हाखण्ड' भी आता है। ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के आश्रित कवि जगनिक ने महोबे के दो बनाफर वीरों—आल्हा और ऊदल—के वीर चरित का वर्णन वीर-गीतों के रूप में लिखा जिसका मूल तो नष्ट हो गया पर उसके आधार पर ये वीर-गीत गाँवों में प्रचलित रहे और आज भी उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में इसका प्रचार है। यह ग्रन्थ गाने के लिए ही लिखा गया था, अतः देश-काल के अनुसार इसकी भाषा बदलती चली गई। इसमें युद्धों के वर्णन में एकरूपता, भौगोलिक अशुद्धियाँ तथा साहित्यिक गुणों की न्यूनता है, फिर भी वीर रस का इसमें पूर्ण उफान है—

सदा तुरैया ना न फूलै, यागे सदा वन सावन होय ।

चढ़ी जवानी ना फिर आवै, एक दिन मरना है सब कोय ॥

इस काल की मुक्तक रचनाओं में अमीर खुसरो-कृत 'खालिकबारी कोश', मसनवियाँ, पहेलियाँ तथा मुकरियाँ हैं। यद्यपि इनमें जनता की चित्तवृत्तियों की छाप नहीं है फिर भी ब्रजभाषा और प्रारम्भिक खड़ी बोली में लोक-हृदय को आकृष्ट करने वाली ये रचनाएँ सरल, सरस तथा सुकोमल हैं। इनका रचना-काल संवत् १३४० है। उनकी भाषा प्राचीन परिपाटी की अपभ्रंश की पुट लिये हुए न होकर तात्कालिक समाज की शुद्ध तथा सरल बोलचाल की भाषा है तथा हिन्दुओं और

मुसलमानों में भाषा-सम्बन्धी एकता स्थापित करने की स्पष्ट झलक है।

मैथिल कोकिल विद्यापति ने तत्कालीन संस्कृत, अवहट्ठ (अपभ्रष्ट-अपभ्रंश) तथा मैथिली तीनों भाषाओं में रचनाएँ कीं। इनका जन्म सं० १४१७ तथा मृत्यु सं० १५०७ के लगभग हुई थी। अपभ्रंश में इन्होंने वीर-काव्य की धारा को प्रवाहित रखा तथा 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' नामक दो ग्रन्थ लिखे। मैथिली भाषा में 'गीतगोविन्द' के टक्कर की पदावली की रचना इन्होंने की। इनके पद अधिकतर शृङ्गार के ही हैं जिनमें नायिका और नायक राधा-कृष्ण हैं। इन पदों पर जयदेव की मधुर तथा कोमलकान्त पदावली की स्पष्ट छाप है। यद्यपि इनके पद बंगाल में वैष्णव धारा के प्रवर्तन में सहायक हुए और आज भी कीर्तनों में गाये जाते हैं पर ये शैव थे। ये एक सच्चे भावुक, सहृदय और शृङ्गारिक कवि थे।

महाराजा हम्मीर के पश्चात् मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया अतः जनता की चित्तवृत्ति में परिवर्तन हुआ और विचार-धारा दूसरी ओर मुड़ चली। यहीं से वीरगाथाएँ शिथिल पड़ने लगीं, यद्यपि समय-समय पर अनेक वीर-काव्य लिखे गए और हिन्दी-साहित्य में वीर-काव्य की इस मन्दाकिनी को हम सूखी हुई अवस्था में कभी नहीं पाते।

भक्ति-काल

भारतवर्ष में मुसलमानों के जम जाने पर यहाँ की जनता के हृदय में उन्हें हटाने का विचार बदलने लगा तथा साथ ही उनका ध्यान अपने धर्म की रक्षा की ओर भी प्रवृत्त हुआ। पर यह जाति अपने वीरत्व तथा पौरुष से हताश हो चुकी थी, अतः लोग दैवी शक्ति की उपासना तथा करुणा की ओर मुड़े। मनोविज्ञान का सामान्य सिद्धान्त है कि जब मनुष्य पर कोई विपत्ति आती है तो पहले वह अपने पुरुषार्थ से उसे दूर करने का सतत प्रयत्न करता है। परन्तु यदि वह उससे मुक्त नहीं हो पाता तो वह प्रभु से प्रार्थना करने लगता है। अतः भारतीय जनता ने भगवद्भक्ति को ही एकमात्र अवलम्बन मान लिया और उसने अपना ध्यान धर्म के उस व्यापक तथा हृदयग्राह्य रूप के प्रचार में लगाया जो सबको आकर्षित रखे, और धर्म से विचलित न होने दे। समाज के पथ-प्रदर्शक कवियों ने भी प्रभु-प्रेम का पीयूष-प्रवाह बहाकर इसमें सरसता का सञ्चार कर दिया।

वीर-काव्य के साथ-ही-साथ हमारे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में एक धारा और बहती रही जो आध्यात्मिकता से युक्त थी। यह थी योग-धारा, जिसके सञ्चार में विदेशी आक्रमण से कोई विशेष गड़बड़ी नहीं हुई। 'वज्रयानी सिद्ध', 'कापालिक' तथा 'नाथपन्थी' जोगी देश के पूर्वी तथा पश्चिमी भागों में विचरण करते आ रहे थे। पर इन्होंने 'कर्म' को बिलकुल किनारे ढकेल दिया था तथा भोली जनता को विशुद्ध हृदय-पतति से दयाकर भ्रष्टाचार, दगाचार एवं तामाचार के अखाड़े खड़े

रही थी और सच्चे धर्माभाव का हास हो गया था। उसी समय दक्षिण भारत से भक्ति का स्रोत बह चला और रामानुज, निम्बार्क, स्वामी मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य आदि ने ब्रह्म के 'सत्' तथा 'आनन्द' स्वरूप को लेकर सगुण भक्ति का निरूपण किया। भक्ति-आन्दोलन की इस लहर ने परिस्थिति-वश हिन्दू और मुसलमानों के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग को प्रस्तुत किया तथा नामदेव (सं० १३२८-१४०८) का नाम इसके लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अन्य पन्थों की अपेक्षा गोरखपन्थ कुछ सुधरा हुआ था और इसी ने निगुण धारा के लिए मार्ग बनाया। इस समय शंकर के ज्ञान-प्रधान 'अद्वैतवाद' का भी बड़ा जोर था, अतः उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निगुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी। इस तरह राजनीतिक उथल-पुथल के इस युग में धर्मशील तथा तत्त्वज्ञ इन सन्त कवियों ने निगुण भक्ति को ही अपनाया, क्योंकि जनता को सगुण उपासना की निःसारता का परिचय मिल चुका था। भारतीय अद्वैतवाद तथा मुसलमानों के एकेश्वरवाद के सम्मिश्रण से निगुण धारा बह चली, जिसकी दो शाखाएँ हुई—(१) ज्ञानमार्गी शाखा, (२) प्रेममार्गी शाखा।

ज्ञानमार्गी शाखा

भारतीय 'ब्रह्मज्ञान', योग-साधना, सूफियों के 'प्रेमतत्त्व' तथा सुधार की भावना लेकर यह शाखा आगे बढ़ी। ये न तो पूरे अद्वैतवादी थे और न एकेश्वरवादी; इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति का प्रचार था जिसमें हिन्दू, मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेद-भाव का कुछ परिहार हो। ये ज्ञानमार्गी कवि ज्ञानातीत सत्य के आध्यात्मिक निरूपण में विश्वास रखने वाले थे, अतः इनकी रचनाओं में हम रहस्यवाद का पुट भी वर्तमान पाते हैं। स्वामी रामानन्द के बारह शिष्यों में से कुछ इस मार्ग के प्रवर्तन में प्रवृत्त हुए जिनमें से कबीरदास जी प्रमुख थे और यह ही निगुण पंथ के निर्दिष्ट प्रवर्तक थे।

सन्त कबीरदास—यद्यपि इनके जन्म-संवत् तथा मृत्यु-संवत् के

सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर प्रचलित हैं, तथापि अब तक किये गए अनुसन्धानों के अनुसार इनका जन्मकाल जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार विक्रम संवत् १४२६ तथा मृत्यु-संवत् १५७२ माना जाता है। यद्यपि यह जनश्रुति ही है फिर भी इस मत को मानने की सम्भावना होती है कि यह किसी ब्राह्मणी या हिन्दू स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए थे और एक जुलाहे ने इनका पालन-पोषण किया था। प्रसिद्ध स्वामी रामानन्द जी को इन्होंने अपना गुरु स्वीकार किया था तथा इनका अधिक समय काशी में ही बीता था। कुछ लोगों ने प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख तकी को ही उनका गुरु माना है। पर शेख तकी के लिए वे उतने आदर-सूचक शब्द व्यवहार में नहीं लाये हैं जितने उन्होंने अपने वचनों में गुरु-महिमा के लिए गाए हैं।

वे कहते हैं—

घट-घट है अविनासी सुनहु तकी तुम सेख ।

वहीं पर रामानन्द जी के लिए कहते हैं—

गुरु रामानन्द के चरण पर धोबिन (माया) दीर्हीं वार ।

धर्मदास तथा सूरतगोपाल नाम के उनके दो चेले भी हुए। ऐसा कहा जाता है कि ये विवाहित भी थे तथा उनकी पत्नी का नाम लोई था और इनके 'कमाल' नामक एक पुत्र तथा 'कमाली' नामक एक कन्या भी थी। मरने पर इनके शव को जलाने तथा दफनाने के सम्बन्ध में हिन्दू तथा मुसलमानों में स्पष्ट विवाद हुए, पर चादर हटाने पर शव के स्थान पर केवल पुष्प ही मिले, जिसे दोनों ने बाँटकर अपनी श्रद्धा की भावना को पूरा किया। एक महान् सम्प्रदाय के प्रवर्तक होते हुए भी उन्होंने कभी पराये अन्न से अपना पेट पालने का विचार तक नहीं किया और सदा ताना बुनकर जीवन-निर्वाह करते रहे।

ये अशिक्षित थे। इन्होंने स्वयं लिखा है—

मसि कागद लुयो नहीं कलम गही नहीं हाथ ।

पर देशाटन तथा साधु-फकीरों के सत्संग से इन्होंने ज्ञानोपार्जन किया

और हठयोगियों तथा सूफी फकीरों के रहस्य को समझा तथा तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थिति, भारतीय ब्रह्मवाद, एकेश्वरवाद, सूफीमत और वैष्णव मतों के रहस्य को समझकर इन्हीं सबके सम्मिश्रण से एक नये मत को रूप दिया जो आगे चलकर कबीर-पंथ कहलाया।

मनुष्य के जीवन का मुख्य उद्देश्य हुआ करता है ईश्वर की प्राप्ति। कबीर ने ईश्वर को निराकार तथा प्रेम का अक्षय भण्डार माना है। वह अनादि, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, त्रिगुणातीत, सर्वव्यापक, ज्योतिस्वरूप, अलख तथा निरंजन है। वह कहते हैं—

अजरा अमर कथै सव कोई अलख न कथणा जाई ।

नाति स्वरूप वरन नहीं जाकै घट-घट रह्यो समाई ॥

उनके अनुसार ईश्वर की प्राप्ति में गुरु का बहुत ऊँचा स्थान है तथा उसकी प्राप्ति भक्ति अथवा प्रेम तथा योग द्वारा ही हो सकती है। अतः उन्होंने सूफियों के स्वर-में-स्वर मिलाते हुए कहा है—

हरि मोरे पिय मैं राम की बहुरिया ।

कहीं उन्होंने ईश्वर की प्राप्ति में योग-साधना को भी विशेष स्थान प्रदान किया है। योगाभ्यास द्वारा दिव्य स्वरूप का मनन करते हुए आत्मा समाधिस्थ होकर ईश्वर से मिल जाती है। वह कहते हैं—

सत शब्द परमान, अनहद वाणी जो दृढ़ै ।

और भूट सब ज्ञान कहैं कबीर विचार कै ।

कबीर में ज्ञान-मार्ग की जहाँ तक बातें हैं वे हिन्दू शास्त्रों की हैं। उन्होंने माया, जीव, ब्रह्म, तत्त्वमसि तथा वेदान्तियों के कनक, कुण्डल, न्याय आदि शब्दों का भी व्यवहार किया है—

तत्त्वमसी इनके उपदेसा । ई उपनिषद कहैं सन्देश ।

जागबलिक औ जनक सँबादा । दत्तात्रेय बहै रस स्वादा ॥

अन्योक्तियों का आधार लेकर उन्होंने माया, जीव तथा ब्रह्म का सुन्दर सम्बन्ध दिखाया। इनका सिद्धान्त था—

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी ।

फूट कुम्भ जल जल ही समाना यह तथ कहीं गियानी ॥

वैष्णवमत से इन्होंने अहिंसावाद को अपनाया तथा हिंसा के लिए मुसलमानों को फटकार भी सुनाई । यह सरल जीवन के पक्षपाती थे । अतः उन्होंने शाक्तों की बड़ी निन्दा की है । साथ ही बहुदेवोपासना, अवतार तथा मूर्ति-पूजा आदि का खण्डन इन्होंने एक समाज-सुधारक की भाँति किया है । ये जाँति-पाँति के भी कट्टर विरोधी थे । इन्होंने मुसलमानों के प्रत्येक विधि-विधान को चुन-चुनकर काटा और बार-बार उनकी निस्सारता तथा कुत्सितता भी दिखाई । नमाज़ के विषय में आप कहते हैं—

कंकड़ पत्थर जोड़ि कै, मसजिद लई चुनाय ।

ता चढ़ि मुल्लां बाँग दे, बहरा हुआ खुदाय ॥

इस प्रकार हिन्दुओं एवं मुसलमानों, दोनों में फैली हुई कुरीतियों का इन्होंने खण्डन किया तथा 'राम' और 'रहीम' में सामञ्जस्य स्थापित करके 'धर्म' के नाम पर होने वाले अनाचारों का खुलकर विरोध किया । संसार के मानवों को एकता का पाठ पढ़ाकर, पारस्परिक वैमनस्य को दूर भगाकर, 'संसार तथा कुटुम्ब मिथ्या है' यह समझाकर, अन्ध-विश्वासों से हटाकर, मुक्ति प्रदान करने वाले विशुद्ध मार्ग पर लगा देना ही कबीर का अभीष्ट था ।

कबीर ने अपने समय की चलती बोली को अपनाया । इस बोली का कोई रूप नहीं था । इसमें नाथपंथ की सधुक्कड़ी भाषा, पूर्वी अपभ्रंश तथा उर्दू, अरबी, फारसी, पंजाबी, संस्कृत, डिंगल, आदि के तत्सम एवं तद्भव शब्द मिले हुए हैं । यद्यपि उनकी भाषा साहित्यिक सौन्दर्य-समन्वित नहीं है, फिर भी उस अपरिमाजित एवं अशुद्ध भाषा में भी एक विलक्षण प्रभावशालिनी शक्ति एवं सरस प्रवाह है । 'रमैनी' तथा 'सबद' की भाषा पूरबी है । इसमें भोजपुरी का पुट है । कबीर की शैली भी मौलिक ही है । इनके उपदेशों का संग्रह बीजक तीन

भागों में विभक्त है—साखी, रमैनी, तथा सबद। साखी दोहों में लिखी गई है तथा रमैनी और सबद दोनों गेय हैं। उपदेशक होने के कारण उनकी उपमाएँ, अन्योक्तियाँ इत्यादि अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

अतः हम देखते हैं कि कबीर हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक, रहस्यवादी एवं सुधारवादी कवि हैं। उनकी रचनाओं में हम एक प्रकार की अव्यक्त प्रेरणा पाते हैं, जो हमें इस वातावरण से उठाकर किसी अन्य लोक में पहुँचा देती है। हिन्दी की वर्तमान काव्य-प्रगति में भी कबीर के रहस्यवाद की छाप दीख पड़ती है। शान्तिनिकेतन के आचार्य चित्तिमोहन सेन ने कबीर का गम्भीर अध्ययन किया है। आपकी ही प्रेरणा से स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आपके कतिपय पदों का अनुवाद अंग्रेजी में किया था।

कबीर के पश्चात् भी ज्ञानमार्गी संत कवियों की परम्परा अविकल रूप से चलती रही। इसी शाखा में कबीर के बाद ही रविदास हुए जो जाति के चमार थे, तथा जिनकी भक्ति निर्गुण ढाँचे की थी। इन्होंने भी ईश्वर को व्यापक माना है। यह एक अलग सम्प्रदाय के चलाने वाले भी हुए। इनको मानने वाले रैदास अथवा रविदास कहे जाते हैं।

धर्मदास जी, जो कबीर की गद्दी के अधिकारी थे, एक सिद्ध सन्त कवि हो गए हैं। इनकी रचना में कबीर की अपेक्षा अधिक सुन्दर भाव हैं तथा प्रेमतत्त्व को ही लेकर इन्होंने अपनी वाणी का प्रसार किया है।

सिख-सम्प्रदाय के आदि गुरु नानक देव जी ने भी निर्गुणोपासना का प्रचार पंजाब में किया। इनका जन्म संवत् १५२६ में हुआ था। इनके पद सिक्खों के प्रसिद्ध 'ग्रन्थ साहब' में एकत्रित किये गए हैं, जिनमें भक्ति या विनय के सीधे-सादे भाव सीधी-सादी भाषा में कहे गए हैं। कबीर के उपदेशों का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। उनकी वाणी में हिन्दू और मुसलमान विचारों का मेल प्रशंसनीय रीति से हुआ है। इनके पद भी संसार की अनित्यता तथा भगवद्भक्ति को ही व्यक्त करते हैं।

दादूपंथ के प्रचारक प्रसिद्ध कवि दादूदयाल का जन्म संवत् १६०१ तथा मृत्यु संवत् १६६० में हुई थी। इन्होंने भी अपने सभी सिद्धान्तों को कबीर से लिया है तथा सत्गुरु की महिमा, ईश्वर की व्यापकता, जाति-पाँति की अवहेलना इत्यादि के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इनकी रचनाओं में हृदय की सच्ची अनुभूतियों का ही अभिव्यंजन है।

उपयुक्त सन्त कवियों के अतिरिक्त इस परम्परा में मलूकदास, सुन्दरदास, अक्षरानन्द, जगजीवन, तुलसी साहब, गोविंद साहब, भीखा साहब इत्यादि अनेक कवि हुए और इन्होंने वैराग्य तथा प्रेमादि के विषय में अपनी मनाइर वाणी का सञ्चार किया।

प्रेममार्गी शाखा

इस काल में निगुण उपासना करने वाले भक्त कवियों ने 'तत्त्वसूफ' अथवा 'सूफी' मत को अपनाकर प्रेम-गाथाओं के रूप में लौकिक प्रेम का निरूपण करते हुए आत्मा को परमात्मा से मिलाने वाले 'प्रेम-तत्त्व' का दर्शन कराया। सूफी मत का प्रादुर्भाव फारस के कुछ सन्तों ने किया था, जिन्होंने मुसलमानी एकेश्वरवाद या कट्टर पैगम्बरी खुदावाद को न मानकर विशुद्ध भारतीय अद्वैतवाद को अपनाया और 'बन्दा' (जीव) और खुदा (ब्रह्म) में कोई भेद न मानकर 'अनलहक'-'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ही ब्रह्म हूँ) की धूम मचाई। पर इन्होंने भारतीय अद्वैतवाद के सिद्धान्तों से कुछ अन्तर रखा तथा ज्ञान के स्थान पर प्रेम को ही प्रधानता प्रदान की, और उस आत्मरूप प्रियतम की प्राप्ति प्रेम के द्वारा ही इन्होंने मानी। इन्होंने प्रिय-विरह को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया, क्योंकि यही वियोग उन्हें साधना के मार्ग में प्रवृत्त करता है तथा आत्मा को जागृत करता है। परन्तु जिसके हृदय में यह वियोग जागृत होता है वह प्रकृति के कण-कण में उस असीम सौन्दर्य का प्रतिबिम्ब तथा सृष्टि की सारी वस्तुएँ वियोग प्रगट करते हुए देखता है। हम इनमें प्रेम-तत्त्व की व्यापकता तथा नित्यता का भी

आभास पाते हैं, तथा मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक सम्बन्ध है वह भी इन्हीं के द्वारा व्यक्त हुआ है ।

प्रेममार्गी शाखा के कवियों में अधिकतर मुसलमान कवि ही थे, पर इन्होंने इस्लाम को मानते हुए भारतीय संस्कृति को ही अपनाया, और अपने मत के प्रचार के लिए भारतीय कहानियाँ चुनीं, जिनमें इतिहास तथा कल्पना का अपूर्व योग है । इन पर नाथपन्थियों की भी स्पष्ट छाप है तथा हिन्दू और मुसलमान हृदय को आमने-सामने रखकर वैमनस्य एवं अजनबीपन को दूर करने का प्रयत्न किया गया है । भाषा साहित्यिक अवधी ही है । ये प्रेम-गाथाएँ सर्गबद्ध पद्धति पर न होकर फारसी की 'मसनवी' शैली पर लिखी गई हैं, जिनमें क्रम से ईश्वर, अपने समय के राजा को प्रशंसा, धार्मिक नेता, अपने गुरु की प्रशंसा इत्यादि के बाद कथानक प्रारम्भ होता है । इसमें उस रहस्यमय प्रेम-सूत्र का वर्णन किया गया है जिसकी सहायता से जीव उस प्रेम-मूर्ति तक पहुँच सकता है । प्रेमाख्यानक सूफी कवियों की परम्परा हिन्दी में ईश्वरदास के समय से चली ।

१ ईश्वरदास—इनका रचना-काल सं० १५४६ से १५७४ तक माना जाता है । इन्होंने 'सत्यवती' नामक एक प्रेम-काव्य दोहा तथा चौपाइयों में लिखा । यही सर्वप्रथम प्रेम-प्रबन्ध-काव्य था ।

२ कुतुबन—प्रेममार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करके, साधक के भगवत्प्रेम के दर्शयिता कुतुबन का समय संवत् १५५० के लगभग माना जाता है । इन्होंने 'मृगावती' नामक एक प्रेम-गाथा चन्द्रनगर के राजा गणपतिदेव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती के वर्णन में लिखी । ये शेरशाह के पिता हुसेन शाह के आश्रित तथा चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे ।

३ मंझन—इनका विस्तृत परिचय अभी तक प्राप्त नहीं हुआ । सम्भवतः इनकी रचना 'मृगावती' के पीछे हुई । इनकी रचित 'मधुमालती' की एक खण्डित प्रति ही प्राप्त है । इन्होंने अपनी रचना में आध्यात्मिक

प्रेम-भाव की अभिव्यंजना प्रकृति के दृश्यों से की है। इसमें कनेवर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर और महारस की राजकुमारी मधुमालती के प्रेम-विरह का वर्णन है। साथ ही वास्तविक सहानुभूति तथा निःस्वार्थ भाव का चित्रण भी है और ईश्वर के उस विरह की ओर संकेत है, जिसमें सृष्टि के सारे रूप तड़पते रहते हैं—

विरह अवधि अवगाह अपारा । कोटि माहिं एक परै तपारा ॥

विरह कि जगत अँविरथा जाही । विरह रूप यह सृष्टि सबाही ॥

१ जायसी—प्रेमात्मक रहस्यवाद में जायसी का स्थान सर्वोच्च है। आप का जन्म संवत् १५५० में और मृत्यु संवत् १६०० में हुई। 'भा अवतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि कही।' पहले ये गाजीपुर के रहने वाले थे और बाद में जायस नगर में आये, जो संयुक्त प्रान्त में अमेठी के पास है। माता की मृत्यु के पश्चात् ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहिदी (मुहीउद्दीन) के शिष्य हो गए।

इनकी लिखी हुई तीन पुस्तकें प्राप्य हैं—(१) पद्मावत, (२) अखरावट, (३) आखिरी कलाम। 'अखरावट' की चौपाइयाँ क्रमशः वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर से प्रारम्भ होती हैं, जिसमें ईश्वर, जीव, सृष्टि, प्रेम एवं सूफीवाद के सिद्धान्तों का वर्णन है। 'आखिरी कलाम' एक अत्यन्त छोटी सी पुस्तक है तथा इसमें क्रयामत का वर्णन है। पद्मावत' अवधी भाषा में लिखा हुआ जायसी को अक्षय कीर्ति प्रदान करने वाला, प्रेम की पीर से परिपूर्ण, सरस, गम्भीर, गूढ़ लौकिक एवं अलौकिक पक्ष की भावनाओं से ओत-प्रोत रहस्यवादी महाकाव्य है। यह जायसी की सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसमें प्रेम की गूढ़ता और गम्भीरता के साथ-साथ पारिवारिक और सामाजिक जीवन की एकता पाई जाती है। इसमें शुद्ध दाम्पत्य-प्रेम, मातृ-स्नेह, स्वामि-भक्ति, सतीत्व एवं वियोग के वर्णन के साथ-साथ रहस्यवादी भावनाओं का सर्वत्र चित्रण है।

'पद्मावत' की कहानी में भी विशेषता है। इसमें इतिहास तथा कल्पना का अपूर्व सम्मिश्रण है। यद्यपि जायसी ने अपनी कहानी इतिहासकथो-

द्भूत ही ग्रहण की है पर हम उसका रूप कल्पना के उत्कर्ष द्वारा जनता के हृदय में प्रतिष्ठित ही पाते हैं। कहानी यह है कि सिंहलद्वीप के राजा गन्धर्वसेन के एक पद्मावती नामक कन्या थी। उसके पास हीरामन नामक एक तोता था, जो राजा के डर के मारे उड़ गया एक बहेलिये ने पकड़कर उसे राजा रतनसेन के हाथ बेच दिया, जिसके नागमती नामक रानी थी। सुआ बड़ा वाचाल था, और उसके कहने से राजा रतनसेन सोलह हजार जोगियों को लेकर सिंहल द्वीप पर चढ़ आया तथा शिव की सहायता से पद्मावती को प्राप्त किया। राघवचेतन पण्डित के कहने से अलाउद्दीन खिलजी ने राजा रतनसेन पर आक्रमण किया। उधर रतनसेन कुम्भलनेर के राजा देवपाल से लड़ते हुए मारा गया और पद्मावती तथा नागमती दोनों सती हो गईं और अलाउद्दीन के हाथ कुछ नहीं आया।

इस कथा में उस ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति है जो प्रत्येक साधक के हृदय में उत्पन्न होता है और उसे ईश्वर-प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करता है। अतः जायसी ने ईश्वर को प्रेमिका तथा जीवात्मा को प्रेमी माना है और आत्मा तथा परमात्मा के मेल के लिए नायक के प्रेम को प्रधानता दी है। पर भारतीय शैली से प्रभावित होने से अन्य सूफी कवियों की भाँति इनको भी नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष को दिखलाना पड़ा तथा उसके उत्कट पति-प्रेम तथा सतीत्व का दिग्दर्शन कराना पड़ा। सूफी सिद्धान्त के अन्त में आत्मा का मेल परमात्मा में हो जाता है, अतः अन्य प्रेम-कथाओं की भाँति इसका भी अन्त दुखान्त ही है। इस कथा के उत्तरार्ध में हम लोक-पक्ष का भी विधान पाते हैं। पद्मावती का सौन्दर्य-वर्णन कितना अनुपम है—

सरवरि तीर पदमिनी आई । खोंपा छोरि केस मुकलाई ॥

ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा । नागिनि भौं पि लीन्ह चहुँपासा ॥

यह वर्णन परम प्रियतम के सौन्दर्य का आभास देने वाला है। नागमती का वियोग-वर्णन हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय है—

जेहि पंखी के नियर हूँ, कहै बिरह कै बात ।

सोई पंखी जाइ जरि, तरुवर होइ निपात ॥

कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई । रक्त आँस धुँधुची बन सोई ॥

जायसी के विरह-वर्णन में वेदना, कोमलता तथा गम्भीरता का समावेश है । तथा इसमें हम विरहोद्गार की सच्ची अनुभूति पाते हैं । जायसी में हम भारतीय पद्धति के अनुसार विरहताप के वेदनात्मक स्वरूप की विशद व्यंजना पाते हैं । इससे हम लौकिक सीमा से ऊपर उठकर उस मार्ग का अनुसरण करने लगते हैं, जो इन सूफियों का निर्दिष्ट मार्ग था । इस कथा द्वारा हम प्रस्तुत में अप्रस्तुत का दर्शन करते हैं ।

जायसी ने वस्तु-वर्णन को ठीक रखते हुए प्रसंगानुकूल भावों की व्यंजना की है । उनके रति तथा शोक आदि के वर्णन अधिक भावपूर्ण हैं, तथा युद्धोत्साह की भी स्पष्ट झलक है । परं जीवन के व्यापक वर्णन में ये उतने सफल नहीं हुए हैं, यद्यपि मानव-हृदय के सामान्य भावों का इन्होंने मर्मस्पर्शी चित्रण किया है । जीव तथा जगत् दोनों को ब्रह्म मानकर इन्होंने प्रकृति के अणु-अणु में एक निरंजन ज्योति का आभास पाया है, साथ ही इनमें उपनिषदों के प्रतिबिम्बवाद की भी झलक हम पाते हैं । इनका रहस्यवाद माधुर्य और रसपूर्ण है—

जब लगि पीउ मिलै नहीं, साधु प्रेम कै पीर ।

जैसे सीप सेवाति कहँ, तपैं समुद्र मँझ नीर ॥

इस कथा के वर्णनों से भी साधना के मार्ग, उसकी कठिनाइयाँ और सिद्धि के स्वरूप आदि की पूरी व्यंजना होती है और कुछ लोग तो इस पूरी प्रेम-गाथा को अन्योक्ति ही मानते हैं तथा अपने प्रमाण में निम्नांकित चौपाइयाँ देते हैं—

तन चित उर मन राजा कीन्हा । हिय सिंहल, बुधि पदमिनि चीन्हा ॥

गुरु मुआ जेहि पंथ देखावा । बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ?

नागमती यह दुनिया धंधा । बाँचा सोई न एहि चित बंधा ॥

राधव दूत सोई सैतानू । माया अलाउदीं सुलतानू ॥

पर ये चौपाइयाँ प्रत्येक प्रति में नहीं मिली हैं और हाल में ही एक अनुसन्धानकर्ता ने अपना यह मत स्थिर किया है कि ये बाद में जोड़ी गई हैं जिनमें संकलनकर्ता ने जायसी के मत की ओर स्पष्ट संकेत किया है—

‘मुस्लिम शासकों तथा मौलवियों द्वारा दिये जाने वाले ‘कुफ्र’ के ‘फतवे’ की कुछ भी परवाह न करके जायसी ने मुसलमानों के साथ बराबर लोहा लेने वाले चित्तौर के शिशोदिया वंश के महाराणा की कीर्ति को बखान कर अपनी अपूर्व निर्भयता का परिचय दिया है।’ इनमें हम हिन्दू-मुस्लिम समन्वय की भावना पाते हैं। यह ग्रन्थ ‘मसनवी’ ढंग पर लिखा गया है। भाषा अवधी तथा लिपि उर्दू है। अधिकतर दोहे तथा चौपाइयों का ही प्रयोग है। अलंकार स्वयं आये हैं, उनका समावेश बलपूर्वक नहीं है। सादृश्यमूलक उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा इत्यादि का अधिक प्रयोग और शब्दालंकारों का इसमें अभाव है।

अतः हम देखते हैं कि जायसी ने अपनी परोक्ष ज्योति और सौन्दर्य सत्ता की ओर लौकिक दीप्ति और विशिष्ट सौन्दर्य के द्वारा संकेत किया है, साथ ही हठयोग तथा रसायन आदि का भी आश्रय लिया है। लोक-पक्ष तथा अध्यात्मपक्ष की गम्भीरता तथा सरसता के कारण हम जायसी के काव्य को ‘हिन्दी-साहित्य’ की एक अमूल्य निधि कह सकते हैं।

जायसी के बाद जहाँगीर के शासन-काल में शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्य-परम्परा में हाजी बाबा के शिष्य उसमान कवि हुए, जिन्होंने ‘चित्रावली’ नामक पुस्तक लिखकर प्रेम-गाथाओं की धारा के बहाव को जारी रखा। इनके पश्चात् क्रमशः शेख नबी, कासिमशाह तथा ‘इन्द्रावती’ व ‘अनुराग-बाँसरी’ के रचयिता नूरमुहम्मद हुए, पर जायसी के पश्चात् ही हिन्दुओं की सगुण भक्ति के प्रवाह के सामने सूफियों की निगुण भक्ति न ठहर सकी और नूरमुहम्मद के पश्चात् ही रूफी आख्यान-काव्यों की अखण्डित परम्परा प्रायः समाप्त हो गई। पर

इन मुसलमान कवियों ने हिन्दू-सभ्यता तथा भारतीय संस्कृति के प्रति सच्ची सहानुभूति दिखलाई है और भावों तथा भाषा के विचार से हिन्दी को काफी आगे बढ़ाया है। इन्हीं उपाख्यानों के कारण हिन्दी में वे अमर काव्य रचे गए जिन्होंने हिन्दी-साहित्य को गौरव तथा सम्मान प्रदान किया तथा जिनके भाषा तथा भावों के अनुपम सामञ्जस्य के कारण आज हिन्दी-साहित्य बेजोड़ है।

सगुण धारा

राम-भक्ति शाखा

यद्यपि राम-भक्ति तथा कृष्ण-भक्ति का आविर्भाव ई० पू० में ही प्रारम्भ हो गया था, पर अपने वास्तविक रूप में वह ग्यारहवीं शताब्दी में ही आया, जब दक्षिण में स्वामी रामानुजाचार्य ने आदि गुरु जगत्स्वामी श्री शंकराचार्य जी के वेदान्तीय 'अद्वैतवाद' को भक्ति के हेतु अपूर्ण जानकर, भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिए 'विशिष्टाद्वैतवाद' को आधार बनाकर श्री सम्प्रदाय को चलाया और 'विष्णु' तथा 'नारायण' की उपासना पर जोर दिया। 'विशिष्टाद्वैतवाद' के अनुसार समस्त प्राणी ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं और उसी में फिर मिल जाते हैं। अतः जीवोद्धार के लिए उसका सामीप्य लाभ अनिवार्य है, जो भक्ति के द्वारा ही हो सकता है। 'प्रेम और श्रद्धा के संसर्ग से ही भक्ति की निष्पत्ति होती है।' 'सत्' ब्रह्म के सत् स्वरूप की वह क्रियात्मक अभिव्यक्ति है, जिसका आभास सम्पूर्ण विश्व में विद्यमान है। भक्त इस संसरणीय संसार में 'सत्' की इसी शक्तिशाली प्रवृत्ति के उदयस्वरूप प्रकटित आनन्दमयी ज्योति के दर्शन हेतु सर्वदा लालायित रहता है, तथा इसी ज्योति के प्रकाश में उसे अनन्त सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। आन्तरिक 'चित्' को जब बाह्य 'सत्' के दर्शन प्राप्त होते हैं तभी आनन्द का अनुभव जीव करता है। इसी कारणवश भगवान को 'सच्चिदानन्द' कहा जाता है।

स्वामी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार चिद्चिद्विशिष्ट ब्रह्म ही इस विश्व के कण-कण में व्याप्त हैं और वे ही भक्तों के सर्वस्व हैं। उन्हीं की परम कृपा से जीव को मोक्ष प्राप्त हो सकता है पर वह कृपा भक्ति-मार्ग पर चलने से ही वांछनीय है। अतः रामानुज के भक्ति-मार्ग ने जनता को अधिक संख्या में अपनी ओर आकर्षित किया। यह सम्प्रदाय 'विष्णु' अथवा 'नारायण' की उपासना को लेकर चला था। इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई।

आगे चलकर १२वीं शती के मध्य भाग में इसी परम्परा के अन्तर्गत प्रसिद्ध वैष्णव-संत बाबा राघवानन्द जी के शिष्य स्वामी रामानन्द जी हुए जिन्होंने चतुर्भुज नारायण के स्थान पर विष्णु के द्विभुज-धारी मानव-लीलाकारी रामरूप को अपनाया, क्योंकि मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने ही समान स्वरूप के प्रति विशेषरूपेण आकृष्ट होता है। इसी राम नाम के सहारे निर्गुण पंथियों ने ज्ञान-प्रधान तथा सात्विक सदाचारों से युक्त अपने सम्प्रदायों को जन्म दिया, तथा दूसरी ओर राम-भक्ति शाखा का सूत्रपात हुआ जिसके कारण भक्ति के शुष्क क्षेत्र में सरसता एवं मधुरता का सम्चार हुआ।

यद्यपि तत्त्वतः स्वामी रामानन्दजी रामानुजाचार्य के ही मतावलम्बी थे पर कुछ लोग मन्त्र-भेद, तिलक-भेद तथा त्रिदण्डी स्वामी न होने के कारण उन्हें 'श्री वैष्णव' सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं मानते हैं। पर श्री रामार्चन-पद्धति में रामानन्द जी ने अपनी पूरी गुरु-परम्परा बतलाकर अपने को श्री रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में ही रखा है। इन्होंने हर्ष, शोक तथा विपत्ति से युक्त विष्णु के लोक-कल्याणकारी रामरूप को अपनाया तथा देश-भेद, वर्ण-भेद, और जाति-भेद आदि के विचारों को भक्ति-मार्ग से दूर रखकर सबकी भलाई के लिए राम-भक्ति के द्वार को खोल दिया। इन्होंने एक सबल वैष्णव-सम्प्रदाय का संघटन किया जो 'वैरागी' के नाम से प्रसिद्ध है तथा इस दल का अन्य

सम्प्रदायों की अपेक्षा बाहुल्य है । राम के विषय में यह कहते हैं—

राम ब्रह्म परमार्थ रूपा । अविगत अलख अनादि अनूपा ॥

सकल विकार रहित गत भेदा । कहि नित नेति निरूपहि वेदा ॥

भगत, भूमि, भूसर, सुरभि, सुरहित लागि कृपाल ।

करत चरित धरि मनुज तन, सुनत मिटहि जग जाल ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम की उपासना उन्हें परब्रह्म मानकर ही की गई । रामानन्द जी का यह भक्ति-आन्दोलन अत्यन्त उदारपूर्ण था और उन्होंने जटिल कर्म काण्डों की अपेक्षा सरल भक्ति की साधना को प्रधानता दी । उन्होंने शूद्रों को भी अपना शिष्य बनाया तथा कबीरदास जी भी, जो मुसलमान थे, इनके शिष्य थे । पर यह बिलकुल नहीं समझना चाहिए कि ये वर्णाश्रम धर्म के विरोधी थे । हिन्दुओं का वर्ण-विभाग सामाजिक कार्य-विभाग की दृष्टि से चला था; तात्त्विक दृष्टि से तो सभी सामान्य थे । अतः समाज के लिए वर्ण तथा आश्रम की व्यवस्था को मानकर भी उपासना के क्षेत्र में उन्होंने सबके समान अधिकार को माना और भगद्भक्ति से भेद-भाव को सर्वथा दूर रखा ।

रामानन्द के केवल दो ग्रन्थ संस्कृत में मिलते हैं—(१) 'वैष्णव-मताब्ज भास्कर', (२) 'श्री रामार्चन-पद्धति' । इनके कुछ पद हिन्दी में भी प्राप्य हैं । बाद में साम्प्रदायिक झगड़े के कारण कुछ ग्रन्थों को लिखकर लोगों ने इनके नाम से प्रसिद्ध किया तथा 'योग चिन्तामणि' एवं 'रामरत्ना' जैसे बेकार ग्रन्थों के भी रचयिता यह गिनाये गए । पर यह सब निर्मूल है । 'ग्रन्थ-माहब' में भी निर्गुण-उपासना के दो-एक पद उनके नाम से मिलते हैं पर वे किसी दूसरे रामानन्द के हैं । इनका कोई प्रामाणिक वृत्त न मिलने के कारण अनेक प्रकार की कहानियाँ इनके विषय में गढ़ी गई हैं, तथा लोगों ने इन्हें योगी तथा गिरनार में सिद्धि प्राप्त करने वाला कहा है । इसका मूल-स्रोत वैरागियों की 'तपसी शाखा' है, जिन्होंने अपनी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए स्वामी रामानन्द जी को भी सिद्ध ठहराया है । पर रामानन्दजी के जो वास्त-

विक दोनों ग्रन्थ हैं तथा उनके द्वारा चलाये हुए सम्प्रदाय में जिस प्रकार की परम पिता की उपासना प्रचलित है, उससे यही प्रकट होता है कि वे इस संसार में भगवान की कला का अनुभव करने वाले विशुद्ध वैष्णव भक्ति-मार्ग के अनुयायी थे, योगमार्गी नहीं। उनकी शिष्य परम्परा में अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत मतों का सम्मिश्रण हुआ है। कबीर, पीपा, रैदास, सेना तथा मलूक आदि सन्तों पर उनकी विशिष्ट छाप है। आगे चलकर उन्हीं की शिष्य परम्परा में हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य श्री गोस्वामी तुलसीदास जी का उदय हुआ जिनका जगत्प्रसिद्ध 'रामायण' हिन्दी-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रत्न है।

कुछ भी हो 'राम-भक्ति शाखा' हिन्दी-साहित्य की प्राण है। इसने लोक-धर्म की स्थापना करके संस्कृति, मर्यादा एवं समाज को विश्रुंखल करने में सहायक, तथा लोक-धर्म की अवहेलना करने वाली नाथपंथियों, गोरखपंथियों तथा निगुणपंथियों की बानी को भूटा कर दिया, तथा हृदय-पक्ष और रागात्मिका-वृत्ति से सम्बन्ध स्थापित करने वाली सच्ची भक्ति की भावना को उद्दीप्त किया। साथ ही इस काल में भाषा का एक शिष्ट तथा सामान्य रूप कविता के लिए आया और परिष्कृत भाषा में भारतीय संस्कृति, शिष्टता तथा सभ्यता की झाँकी हमें देखने को मिली। इस धारा के प्रमुख कवि गोस्वामी तुलसीदास हैं।

गोस्वामी तुलसीदास—हिन्दी-गगन के देदीप्यमान सूर्य गोस्वामी तुलसीदासजी सगुणाश्रयी राम-भक्ति धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। इनकी रचनाओं में हम अद्भुत प्रतिभा तथा अलौकिक कवित्व शक्ति का पूर्ण समावेश पाते हैं। साथ ही इन्हीं की वाणी द्वारा भक्ति का वास्तविक प्रकाश जनता को दृष्टिगोचर हुआ है। फलतः उनकी यश तथा कीर्ति की पताका आज भी अदम्य उत्साह तथा वेग के साथ हिन्दी-गगन में फहरा रही है।

गोस्वामी जी के जीवन-चरित के विषय में अनेक प्रकार के मत-मतान्तर प्रचलित हैं। प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिवसिंह-सरोज' में बेनीमाधव

दास कृत 'गोसाई-चरित' का उल्लेख है। यह पुस्तक अब प्राप्य है। यद्यपि इसमें वर्णित कुछ घटनाएँ इतिहास-सम्मत नहीं हैं फिर भी इसके अन्दर दी हुई अधिकतर बातें परम्परागत हैं, अतः उन पर विश्वास किया जा सकता है क्योंकि वे पूर्णतया बेसिर-पैर की नहीं हो सकतीं।

दूसरी पुस्तक, जिसके द्वारा गोस्वामीजी के जीवन-वृत्त पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, महात्मा रघुवरदास-कृत 'तुलसी-चरित' है। दोनों की बातों में परस्पर विरोध है। 'गोसाई-चरित' में दिया है कि तुलसीदास जी के पिता जमुना के किनारे दुबे-पुरवा नामक गाँव के निवासी थे तथा उनके पूर्वज 'पत्योजा' गाँव से वहाँ आये थे। परन्तु 'तुलसी-चरित' के अनुसार तुलसीदास के पिता मुरारि मिश्र थे तथा तुलसीदास जी के पूर्वज गाना के मिश्र थे और सरवार में मझौली से तेईस कोस पर कसया ग्राम के रहने वाले थे।

'तुलसी-चरित' तथा 'गोसाई-चरित' दोनों में उनका जन्म-संवत् १५५४ दिया हुआ है। गोसाई-चरित में तो तिथि का भी स्पष्ट उल्लेख है—

पन्द्रह सो चव्वन विपे, तरणि तनूजा-तीर ।

आवण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धर्यो शरीर ॥

इसको मान लेने से उनकी आयु १२६-१२७ वर्ष की हो जाती है, जिस पर कुछ लोग शंका कर बैठते हैं। पर गोस्वामीजी-सरीखे वीतराग तथा पुनीत आचरण वाले महात्मा की इतनी दीर्घ आयु होना कोई बड़ी बात नहीं है। 'शिवसिंह-सरोज' में इनका जन्म-संवत् १५८३ दिया हुआ है। प्रसिद्ध रामायणी पं० रामगुलाम द्विवेदी जी ने जनश्रुतियों के आधार पर उनका जन्म-संवत् १५८६ ठहराया है तथा इसी को डॉ० ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है। उक्त श्रुति के अनुसार इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे तथा माता का नाम तुलसी था, जिनका उल्लेख 'रहीम' ने भी किया है।

इनकी मृत्यु के सम्बन्ध में यह दोहा प्रचलित है—

संवत् सोरह सौ असी, असी गंग के तीर ।

श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर ॥

पर बाबा बेनीमाधवदास के गोसाईं-चरित में उक्त तिथि इस प्रकार दी हुई है—

संवत् सोरह सौ असी, असी गंग के तीर ।

श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर ॥

यही तिथि ही प्रमाणित है, क्योंकि गोस्वामी जी के अनन्य मित्र 'भदैनौ' के ठाकुर टोडर के वंशज अब भी इसी तिथि को गोस्वामी जी के नाम पर सोधा दिया करते हैं ।

इनके जन्म-स्थान को लेकर भी बड़ा वादविवाद खड़ा हो गया है । यद्यपि 'गोसाईं-चरित' में राजापुर (बाँदा) का स्पष्ट उल्लेख है फिर भी स्व० लाला सीताराम जी के इशारे को लेकर लोग उनके जन्म-स्थान को 'सोरो' सिद्ध करने का सतत प्रयत्न कर रहे हैं । इसकी पुष्टि वे 'मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सो सूकर खेत' से करते हैं तथा सूकर-खेत को 'सोरो' ठहराया है । इनमें श्री रामनरेश जी त्रिपाठी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं । पर शुक्लजी ने इस सूकर-खेत को गोंडा जिले में ठहराया है तथा इसे एक पवित्र तीर्थ बतलाया है, जहाँ अब भी मेला लगता है । सोरो की पुष्टि लोग नरहरिदास जी से करते हैं जिन्हें तुलसीदास जी का गुरु होना बतलाया जाता है । पर यदि हम तुलसीदास जी की भाषा पर विचार करते हैं तो उसे पूरबी हिन्दी का पुट लिये हुए अवधी ही पाते हैं, जो पच्छिम के रहनेवाले के लिए असंगत-सी जान पड़ती है । साथ ही तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस के अयोध्या काण्ड में राजापुर के पास ही जमुना के किनारे एक तपसी कवि को अपने इष्टदेव राम से मिलाया है, जिसका कथा-प्रसंग से कोई सम्बन्ध नहीं है । वह एकाएक आता है तथा इष्टदेव का दर्शन पाकर उसी भाँति चला भी जाता है । अतः अस्पष्ट रूप से उन्होंने इस तापस कवि का उल्लेख अपने ही विषय में किया है—

तेहि अवसर एक तापस आवा । तेज पुञ्ज लघु बयस सुहावा ॥

कवि अलक्षित गति वेष विरागी । मन क्रम रचन राम-अनुरागी ॥

सजल नयन तन पुलक निज, इष्ट देउ पहिचानि ।

परेउ दण्ड जिमि धरनि तल, दसा न जाइ बखानि ॥

उपयुक्त प्रमाणों के आधार पर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उनका जन्म-स्थान 'सोरो' न होकर राजापुर ही था । तुलसीदास जी जैसे कवि, जिन्होंने देश तथा काल की सीमा का उल्लंघन कर दिया है, उनको संकीर्ण जातीयता तथा साम्प्रदायिक मनोभाव से खींचकर किसी विशेष वर्ग अथवा स्थान का व्यक्ति ठहराना एक अनधिकार चेष्टा ही है । उनके जीवन-चरित के विषय में नवीन उद्भावनाओं की सृष्टि न करके उनके ग्रन्थों का अधिकाधिक अनुशीलन करके प्रचलित वस्तुओं को प्रामाणिकता की कोटि तक पहुँचाने की कोशिश करनी चाहिए । इसी भाँति वे सनाढ्य ब्राह्मण न होकर निश्चित रूप से सखरिया थे तथा राजापुर के ही रहने वाले थे ।

कहा जाता है कि इनके गुरु बाबा नरहरिदास जी थे जो रामानन्द जी के वैरागियों की परम्परा के प्रसिद्ध सन्त थे । इसके प्रमाण में गोस्वामी जी का निम्नांकित दोहा दिया जाता है—

बंदउ गुरुपद कञ्ज, कृपासिन्धु नर रूप हरि ।

महा मोह तम पुञ्ज, जासु वचन रविकर निकर ॥

पर वैरागियों की उक्त परम्परा में गोस्वामी जी का नाम कहीं भी नहीं है । यह रामोपक अवश्य थे, पर वैरागी न होकर स्मार्त वैष्णव थे । स्मार्त वैष्णव स्मृति से प्रतिपादित धार्मिक रीतियों को मानते हैं, तथा पंच देवों की उपासना को मानते हुए प्रधानता अपने इष्टदेव को ही देते हैं । यह भी प्रचलित है कि उनके अध्यापक काशी के परम विद्वान् महात्मा शेष सनातन जी थे, जो रामानन्द जी के आश्रम में रहते थे । जिन्होंने ही तुलसीदास जी को वेद-वेदान्त तथा इतिहास इत्यादि में प्रवीण किया था । इनका साक्षात्कार उन्हें बाबा नरहरिदास द्वारा ही

हुआ था, क्योंकि वे ही राम-कथा का पान कराते हुए इन्हें काशी ले गए थे ।

यह भी प्रसिद्ध है कि इनका जन्म अभुक्त मूल में हुआ था । इस कारणवश माता-पिता ने इन्हें जन्म लेने के बाद ही त्याग दिया था । 'गोसार्ह-चरित' में यह भी वर्णित है कि जन्म के समय उन्हें पूरे दाँत भी थे तथा पैदा होते ही उन्होंने 'राम' नाम का उच्चारण किया । इस जनश्रुति के कारण तुलसीदास जी के निम्नलिखित उद्धरण हैं —

जनक जननि तज्यो जनमि करम त्रिनु त्रिधिहु सृज्यो अवडेरै ।

मातु पिता जग जाइ तज्यो त्रिधिहु न लिख्यो कछु भाल भलाई ।

बारे ते ललात, त्रिललात द्वार-द्वार दीन,

जानत हौं चारि फल चारि ही चनक में ।

इनके विवाह के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार की शंकाएँ हैं । इन्होंने स्वयं लिखा है—

ब्याह न बरेखी जाति-पॉति ना चहत हौं ।

पर ऐसा प्रसिद्ध है कि इनका विवाह रत्नावली से हुआ था और स्त्री के प्रेम के कारण ही ये विरक्त हुए । प्रसिद्ध है—

लाज न लागत आपको दौरे आएहु साथ ।

धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहाँ मैं नाथ ॥

अस्थि-चर्म-मय देह मम तामै जैसी प्रीति ।

तैसी जौ श्रीराम महुँ, होति न तौ भव भीति ॥

यद्यपि उनके ग्रन्थों में स्त्रियों के प्रति विरोधात्मक भावनाएँ उपस्थित हैं, पर यह स्त्रियों की विशेषताओं तथा सद्गुणों से अवश्य परिचित थे । इन्होंने स्त्रियों के केवल कामिनी-रूप की निन्दा की है । घर से निकलकर देश के एक विस्तृत भू-भाग पर इन्होंने भ्रमण किया तथा रामेश्वर से लेकर ये मानसरोवर तक गये । अपने समय के ये प्रसिद्ध भक्त थे तथा देश में इनकी काफी प्रसिद्धि हो चुकी थी ।

इनके रचे २२ ग्रन्थ बताये जाते हैं जिनमें बारह तो निश्चित ही इनके

द्वारा लिखे गए हैं। इनमें 'दोहावली,' 'कवित्त 'रामायण,' 'गीतावली,' 'रामचरितमानस' तथा 'विनय-पत्रिका' बड़े ग्रन्थ हैं तथा 'रामाज्ञा-प्रश्नावली,' 'रामलला नहलू,' 'पार्वती-मंगल,' 'जानकी-मंगल,' 'वरवै-रामायण,' 'वैराग्य-संदीपनी' तथा 'कृष्ण-गीतावली' छोटी पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त 'राम-सतसई,' 'संकटमोचन,' 'हनुमान-बाटुक' तथा 'राम-शलाका' इत्यादि के भी ये रचयिता कहे जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि सूरदास जी से भी आपकी भेंट हुई थी तथा 'रहीम' कवि, राजा मानसिंह, नाभादास, मीराबाई और नन्ददास से भी आपका परिचय था।

गोस्वामी जी से पहले काव्य-भाषा एक संकुचित क्षेत्र में ही चली आ रही थी। यद्यपि कबीरदास जी ने चलती बोली को अपनाया था पर उसका कोई निश्चित रूप नहीं था। पर सगुणोपासक कवियों ने प्रचलित भाषा को नवजीवन-सा प्रदान किया। भक्त सूरदास जी ने चलती ब्रज भाषा को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया था। साथ ही अवधी भी पूरबी का पुट लिये हुए प्रेममार्गी शाखा के कवियों द्वारा साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश कर चुकी थी। अतः अपने समय की प्रचलित दोनों काव्य-भाषाओं में समान अधिकार प्राप्त करके गोस्वामी जी ने अपनी रचना; की साथ ही दोनों में संस्कृत-पदावली का सम्मिश्रण करके भाषा को एक नवीनता तथा प्रौढ़ता की श्रेणी में लाए। इन्होंने संस्कृतज्ञ होने के नाते कुछ श्लोक भी लिखे।

अपने समय की प्रचलित सभी रचना-शैलियों को गोस्वामी जी ने अपनाया। वीरगाथा-काल को छन्द तथा छप्पय-पद्धति को अपनाकर आपने लंका-काण्ड के युद्ध का वर्णन किया है तथा जहाँ वीर-रस बहुत अधिक छलक पड़ा है वहाँ इसी शैली को आपने विशेषरूपेण आश्रय दिया है। विद्यापति तथा सूरदास की गीत-पद्धति को अपनाकर आपने 'विनय-पत्रिका' तथा 'गीतावली' जैसे गीत-काव्य का सृजन किया तथा अनुप्रासयुक्त कोमलकान्त पदावली को उपस्थित किया। 'गीतावली' में तो हम सूर की रचना का सादृश्य ही विद्यमान पाते हैं तथा राम का

नखशिख-वर्णन पूर्णतया सूर की शैली पर ही पाते हैं। गोसाईं जी ने चारणों तथा गंग इत्यादि भाटों की कवित्त तथा सवैया-पद्धति पर उन्हीं की परम्परा के अनुसार 'कवितावली' लिखी, जिसमें कोमल भाषा में ही हम विभिन्न रसों का समावेश पाते हैं। इसकी शब्द-योजना भी अत्यन्त सुन्दर है। 'रामचरितमानस' तथा 'दोहावली' में हम कबीर आदि सन्तों की सूक्त-पद्धति का अनुकरण पाते हैं, पर इस पद्धति में भी वास्तविक भक्ति तथा प्रेम की मर्यादा के दर्शन प्राप्त होते हैं। प्रेम-गाथा गान करने वाले सूफी कवियों के दोहे तथा चौपाई के क्रम के अनुसार आपने अपने प्रसिद्ध प्रबन्ध-काव्य रामचरितमानस की रचना की है, जिस पर हिन्दी-साहित्य को गर्व है तथा जिसे संसार की महान् पुस्तकों में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। पर इसमें आपने ठेठ अवधी का माधुर्य प्रदर्शित करते हुए संस्कृत पदावली का अपूर्व सम्मिश्रण भी दिखलाया है। इस प्रकार अपने समय की प्रचलित सभी शैलियों को अपनाकर सब पर आपने अपना समान अधिकार दिखलाया है।

वीर-काल के कवियों ने उत्साह तथा जोश को, भक्ति-काल के अन्य कवियों ने प्रेम तथा ज्ञान को, तथा रीति-काल के कवियों ने शृंगार को ही प्रधानता प्रदान की, पर गोस्वामी जी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इन्होंने मानव-जीवन के समस्त अंगों का प्रतिपादन करते हुए मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र के भीतर मानवता के उदात्त आदर्शों को उपस्थित किया, तथा साधना के मार्ग में विरागयुक्त शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश देते हुए लोकपक्ष में पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्य-पालन की शिक्षा दी।

निर्गुण-धारा के कवियों की बानी में लोक-संग्रह की भावना का पूर्ण अभाव था। इनके उपदेशों के द्वारा समाज में विशृङ्खलता आ रही थी, तथा उसकी मर्यादा भी नष्ट-सी हो रही थी। हृदय-पक्ष-शून्य 'नाथ पंथ' का हठयोग जनता को अन्धकार की ओर ले जा रहा था तथा उनकी रहस्ययुक्त बानियों द्वारा जनता की भक्ति-भावना दब-सी गई थी।

ईश्वर केवल कुछ इने-गिने रहस्यवादियों का ही विषय रह गया था। पर तुलसी की भक्ति-पद्धति सर्वाङ्गपूर्ण है; जीवन के सभी पक्षों तथा कर्म, धर्म और ज्ञान से उसका गहरा सम्बन्ध है। साथ ही चित्त को एकाग्रता प्रदान करने के लिए इन्होंने योग का भी नाम लिया है। इन्होंने किसी सम्प्रदाय-विशेष अथवा सिद्धान्त-विशेष का समर्थन अथवा प्रतिपादन न करके सम्पूर्ण भारत की भावनाओं का प्रतिनिधित्व किया है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामीजी ने विविध शास्त्रों के अध्ययन द्वारा ग्रहण करके अपनी कृतियों के द्वारा सम्यक् रूपेण उन्हें व्यक्त किया। भारत की तीन प्रमुख विशेषताएँ उदारता या सहिष्णुता, कर्मण्यता या निष्काम कर्म, तथा त्याग या कष्टसहन को साहित्य के सच्चे अर्थ में प्रकट करके यह भारतीय-साहित्य के वास्तविक अधिकारी हैं। इन्होंने हिन्दू-धर्म के सच्चे स्वरूप को राम के चरित्र में उपस्थित करके एक आदर्श दुनिया के सामने रखा है। धर्म और समाज की व्यवस्था, राजा-प्रजा का सम्बन्ध, माता, पिता, गुरु-शिष्य तथा भाई इत्यादि का एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य तथा व्यवहार इत्यादि का सच्चा स्वरूप इन्होंने ऐसा खड़ा किया है जो सबके लिए अनुकरणीय तथा मङ्गलप्रद है। साथ ही प्रेम तथा शृङ्गार का ऐसा पवित्र वर्णन किया है, जो सबके सामने बेखटके पढ़ा जा सकता है। इस तरह उनके काव्य लोक-संग्रह की भावनाओं से भरे पड़े हैं। यदि ये विचार जनता के हृदय-स्थली से पयान कर जाते हैं, तो निश्चय ही उसमें विशृङ्खलता आ जाती है। इस तरह जनता का ध्यान लौकिक कर्तव्यों की ओर मोड़कर ये उसे कल्याण पथ की ओर लाये।

प्राचीन भक्ति-मार्ग के अन्दर भी तुलसी के समय में काफी बुराई आ गई थी। शैवों तथा वैष्णवों के बीच काफी विद्वेष फैल चुका था तथा दक्षिण भारत में यह काफी जोर पकड़ चुका था। पर तुलसी ने सामञ्जस्य-व्यवस्था को स्थापित करके इसका बिलकुल खारमा-सा ही कर दिया। इन्होंने कबीर आदि सन्तों द्वारा प्रचलित संकीर्णता को दूर

भक्ति-काल

करके परम उदारता के पाठ को पढ़ाया, तथा हिन्दुओं के सब देव को तथा रीति-नीति को अपनाकर उपास्य देव के नाम पर होने भगवों का अन्त कर दिया। 'शिव' उनके लिए उतने ही पूज्य हैं कि 'राम'। इस प्रकार भक्त के मन से बिलकुल भेद-भाव को दूर हुए ही आपने जन-साधारण को शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश दिया आप कहते हैं—

रामचरित जे सुनत अत्राहीं । रस विशेष जाना तिन नाहीं ।

सिव समान मोहि प्रिय न दूजा ।

सिव द्रोही मम दास कहावा । सो नर सपनेहु मोहि न भावा ।
उन्होंने राम, कृष्ण, शिव, शक्ति, गणेश आदि प्रभु के नाना रूप समान विश्वास तथा आस्था प्रकट कर तात्त्विक दृष्टि से शंकराचार्य द्वैतवाद को स्वीकार करते हुए विशिष्टाद्वैत को ही व्यावहारिक रूप से स्वीकार किया। अतः उनमें दार्शनिक उदारता का भी पूर्ण अंश पाते हैं। भक्ति के चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर भी आपने लोकपथ भी पूर्ण विधान रखा। साधु-सन्त की संगति, बुरे पक्षों की विद्वत्ता की पहचान को देखकर यही ज्ञात होता है कि आपने को भी आँखें खोलकर देखा था। जिस सृष्टि के कण-कण में उपरब्रह्म राम की सत्ता को विद्यमान पाया है, उसके अनेक स्वरूप को भी उन्होंने पूर्णरूपेण पहचाना है। सन्त-समाज जो लम्बा रूपक मानस की प्रस्तावना में स्थित है इसी बाध्योक्त है—

सुद मंगलमय संत समाज । ज्यों जग जंगम तीरथ राज ॥

राम भगति जहँ सुरसरि धारा, सरसइ ब्रह्म विचार प्रचारा ॥

पर इसके साथ ही लोक-पक्ष की भावना से प्रेरित होकर आपने प्रस्तावना के अन्दर दुष्टों की भी वन्दना की है—

बहुरि बंदि खल गन सत भाये । जे त्रिनु काज दाहिने बाये ।

परहित हानि लाभ जिन केरे । उजरे हर्ष विसाद बसेरे ॥

और इस सृष्टि को सम तथा विषम मानकर अपने मन का भी समाधान कर दिया है—

जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार ।

संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि वारि विकार ॥

इन्होंने विशिष्टाद्वैत का ही प्रतिपादन किया है तथा जगत् को सियाराम मय कहा है—

सियाराम मय सब जग जानि । करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ॥

गिरा अर्थ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न ।

वंदौ सीता राम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥

सीता प्रकृति-स्वरूपा तथा राम परब्रह्म हैं । यद्यपि तुलसी के राम विष्णु के अवतार हैं पर वे लोक-रंजन तथा लोक-रक्षक रूप में ही । कबीर की भाँति वे रहस्यवादी नहीं, प्रत्युत् मानव-रूप में होते हुए भी विश्वव्यापी हैं । साथ ही निष्काम कर्म की ओर उत्तरोत्तर क्षीण होती हुई हमारी प्रवृत्ति को साहस प्रदान करके उसकी ओर उन्होंने हमारा ध्यान विशेषरूपेण आकर्षित किया और इस तरह कर्म-मार्ग का प्रतिपादन किया है—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करै सो तस फल चाखा ।

पर इसके साथ ही वह यह भी कहते हैं—

विधि कर लिखा को मेटन हारा

तथा

मुनहु भरत भावी प्रबल, विहँसि कहेऊ मुनिनाथ ।

हानि लाभ जीवन मरन, यश-अपयश विधि हाथ ॥

तप और त्याग के स्थान पर समाज में फैलती हुई विलासप्रियता का भी इन्होंने घोर विरोध किया और इसी भावना को लेकर इन्होंने कृष्ण के लिए यह कहा था—

कहा कहौं लुवि आज की, भले बने हो नाथ ।

तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण लेहु हाथ ॥

इस तरह उन्होंने धनुष-बाण लेकर कर्मवीर होने की ही बात कही है। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों के सम्मिश्रण से विमनस्क हुए समाज को वर्णाश्रम धर्म की दीक्षा देते हुए आपने उसको ऐक्य के आदर्श की ओर मोड़ दिया। रामायण में भायप-भक्ति, पति-पत्नी का कर्तव्य, सेवक-स्वामी-सम्बन्ध तथा राजनीति आदि का चित्रण मनन करने योग्य है। कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान तुलसी में बहुत अधिक है और इन स्थानों के वर्णनों को इन्होंने अपनी अपूर्व लेखनी द्वारा सम्यक् रूपेण व्यक्त किया है। ये वर्णन मनुष्य-मात्र के हृदय पर अमिट छाप करने वाले हैं तथा इनका एक स्थायी प्रभाव हमारे अन्तस्तल पर पड़ता है। इनमें फुलवारी-वर्णन, राम-वन-गमन, दशरथ-मरण, भरत की आत्मग्लानि इत्यादि प्रमुख हैं। साथ ही रचना-कौशल, प्रबन्ध-पटुता, तथा वर्णन करने की अपूर्व शैली का रामचरितमानस में समावेश है। अयोध्या-वर्णन, बाललीला-वर्णन इत्यादि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। प्रबन्ध-काव्य के अवयवों का समीकरण, कथा इत्यादि के मार्मिक स्थलों की पहचान, प्रसंगानुकूल भाषा, रसों की शिष्ट मर्यादा तथा लोकपक्ष एवं आदर्श के विद्यमान होने से ही उनका रामचरितमानस एक उच्च कोटि का प्रबन्ध-काव्य हुआ है।

‘कवितावली’ में ब्रजभाषा का यथेष्ट पुट है। इसमें भी भाषा का मधुर प्रवाह, भावानुभावों की व्यंजना तथा हास्य-रस के साथ वीर-रस का प्रवाह दर्शनीय है। इसमें कवित्त तथा सवैया का ही अधिक व्यवहार किया गया है और इसमें वर्णित अग्निकाण्ड का चित्रण पूर्ण सजीव है। तुलसीदास जी ने अपने आराध्य तथा इष्टदेव राम का गुण-गान करते हुए तथा जीवन में इस तरह शान्ति प्राप्त करके अन्त में उनके ही अन्दर अपनी सत्ता को खो दिया, और इसी उद्देश्य की पूर्ति में अपनी विनय-पत्रिका की रचना की। इसमें सरस तथा गेय पद हैं तथा यह उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। इस तरह जीवन और साहित्य, भाव और भाषा तथा और सभी दृष्टि से तुलसी हिन्दी तथा भारतीय

साहित्य के श्रेष्ठ कवि हैं। इनकी रचनाओं में उपदेशों की भी भरमार है। अलंकार जबरदस्ती नहीं लाये गए हैं, बल्कि वे स्वयं विद्यमान हैं। उन्होंने सभी अलंकारों में कुशलता दिखाई पर रूपक तथा उपमा इत्यादि विशेषरूपेण प्रशंसनीय हैं। साँग-रूपक बाँधने में ये अद्वितीय-से ही हैं।

गोस्वामी जी की रचना सर्वाङ्गपूर्ण तथा काव्य-कुशलता से ओत-प्रोत है। इनके और ग्रन्थ भी उत्तम कोटि के ही हैं। आपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में मनोवैज्ञानिक दृष्टि को ही अपनाया है, पर रचना की निपुणता में हम भद्दापन रंचमात्र भी नहीं पाते हैं, तथा यह शब्द-खिलवाड़ के जाल से भी कोसों दूर है। प्रकृति-वर्णन भी हिन्दी में उनका बेजोड़ है। इन्होंने जाति, धर्म तथा संस्कृति तीनों को अछुए रखने का भरसक प्रयत्न किया है और बराबर इसकी रक्षा में ही संलग्न रहे हैं। ऐसी भाषा का प्रयोग इन्होंने किया है जो भावों तथा विचारों को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सकी है। शब्दों के मरोड़ इत्यादि का इसमें नितान्त अभाव है तथा यह मानसिक वृत्तियों से युक्त आत्मा के स्वच्छ प्रवाह को लेकर ही चली है। इतना सब होते हुए भी इनकी रचना सर्वत्र मर्यादा के अन्दर ही है। इनके द्वारा हिन्दी की सर्वतोमुखी उन्नति हुई तथा हिन्दी-साहित्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था।

हम यह स्पष्ट कह सकते हैं कि “हिन्दी कविता के कीर्ति-मन्दिर में गोस्वामी जी का स्थान सबसे ऊँचा और विशिष्ट है।”

साहित्य का विकास प्रायः ऐसा देखा गया है कि एक क्रम के अनुसार ही होता है। राम-भक्ति शाखा, जिसने श्री रामानुजाचार्य द्वारा एक निर्दिष्ट मार्ग का आश्रय लिया, तुलसी द्वारा अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई, और यही उसका पूर्ण विकसित रूप था। राम-भक्ति शाखा का वृत्त, जो तुलसी के पूर्ववर्ती कवियों के समय में ही फूलों से युक्त हो गया था, अब फलाच्छादित भी हो गया, पर तुलसी के पश्चात् इस वृत्त की डालें कुछ कमजोर-सी होती नजर आईं और वह क्रमिक विकास कुछ रुकता-सा दृष्टिगोचर हुआ, जिसका प्रारम्भ तुलसी के

पहले से ही हुआ था और वह विकास अब हास की ओर ही उन्मुख हुआ। कविता के क्षेत्र में राम-भक्ति धारा प्रायः क्षीणतर ही होती चली गई और इसके अन्दर साम्प्रदायिकता का भी पर्याप्त मात्रा में सन्निवेश हो गया। यह सम्प्रदाय तुलसी के काव्य-प्रचार में जुट गया, पर इससे काव्य तथा साहित्य के विकास में एक प्रकार की रोक ही उपस्थित हो गई।

रामानन्द जी की शिष्य-परम्परा में ही संवत् १६३२ के लगभग कृष्णदास जी पचहारी के शिष्य अग्रदास जी हुए, जिनकी बनाई हुई 'हितोपदेश उपखाणां बावनां,' 'ध्यान-मंजरी,' 'रामध्यान-मंजरी' तथा 'कुण्डलियाँ' इन्हीं चार पुस्तकों का पता है। ये तुलसीदास जी के समकालीन ही थे। इनकी कविता की शैली कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रसिद्ध कवि नन्ददास से मिलती-जुलती है—

कुण्डल-ललित कपोल जुगल अस परम मुदेसा ।

तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा ॥

इन्हीं के शिष्य प्रसिद्ध भक्त कवि नाभादास हुए जिन्होंने 'भक्त-माल' की रचना की। यह संवत् १६५७ के लगभग वर्तमान थे। 'भक्तमाल' में इन्होंने २०० भक्तों के चरित्र ३१६ छप्पयों में गाये हैं, पर जीवन-वृत्त न देकर केवल भक्ति की महिमा ही दी हुई है। इससे उत्तर भारत के समाज के अन्दर साधुओं को विशेष आदर प्राप्त हुआ तथा जनता भक्त की महिमा देखकर भक्ति की ओर आकृष्ट हुई। इस पर संवत् १७६१ में प्रियादास जी ने प्रसिद्ध टीका लिखी। इनको कुछ लोग डोम बतलाते हैं तथा कुछ लोग क्षत्रिय। ये गोस्वामी जी के प्रसिद्ध मित्र कहे जाते हैं और ऐसी प्रसिद्धि है कि इन्हीं से भेंट करने के लिए गोस्वामी जी ने वृन्दावन की यात्रा की थी। तुलसी के विषय में इन्होंने लिखा है—

संसार अपार के पार को सुगम रूप नौका लियो ।

कलि कुटिल जीव निस्तार हित वालमीकि तुलसी भयो ॥

ब्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। भक्तमाल के अतिरिक्त

हिन्दी भाषा तथा साहित्य

ोंने दो 'अष्टयाम' भी लिखे—एक ब्रजभाषा गद्य में, दूसरा राम-तमानस की शैली पर दोहा और चौपाइयों में—

उदाहरण गद्य—तब श्री महाराजकुमार प्रथम श्री वसिष्ठ महाराज के चरन लुई प्रनाम करत भये ।

अवधपुरी की सोभा जैसी । कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी ॥

रचित कोट कलधौत सुहावन । विविध रंग मति अति मन भावन ॥

परिखा प्रति चहुँदिसि लसति, कंचन कोट प्रकास ।

विविध भाँति नग जगमगत, प्रतिगोपुर पुर पास ॥

'भक्तमाल' में हमें सच्ची सहृदयता तथा गुणग्राहकता के दर्शन होते और इसमें इन्होंने साम्प्रदायिक विभेद परित्यक्त करके अनेक महा-ओं की रचना तथा भक्ति के विषय में लिखा है और सूत्र-शैली का [करणकर के कवि की प्रत्येक विशेषता का दिग्दर्शन कराया है ।

रामचरित को लेकर संस्कृत में नाटकों की रचना हुई, जिनमें कुछ क तो साहित्य के नियमानुसार लिखे गए और कुछ का नामकरण ल संवाद-रूप में ही होने के कारण नाटक हुआ । प्राणचन्द चौहान [सी शैली का अनुकरण करके संवत् १६६७ में 'रामायण महानाटक' वा । इस तरह इस शैली से प्रभावित होकर भी रचना हुई—

कातिक मास पच्छ उजियारा । तीरथ पुन्य सोम कर वारा ।

ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना । शाह सलेम दिलीपति थाना ॥

संवत सोरह सै सत साटा । पुन्य प्रगास पाप भय नाटा ॥

इसी शैली का आश्रय लेकर हृदयराम ने संवत् १६८० में संस्कृत हनुमन्नाटक' के आधार पर 'भाषा हनुमन्नाटक' की रचना की । की कविता अनुपम तथा परिमार्जित है, यद्यपि ये दोनों नाटक गाला के लिए उपयुक्त नहीं हैं और केवल संवाद-रूप में होने ही इनको नाटक की संज्ञा प्रदान की गई है । इससे पहले [सी ने यद्यपि अपने समय की प्रचलित सभी शैलियों पर अपनी भुत लेखनी उठाकर राम-गाथा से हिन्दी-साहित्य को भर दिया था

पर नाटक अथवा रूपक के ढंग पर उन्होंने कोई रचना नहीं की। इस तरह राम-भक्ति शाखा में दृश्य-काव्य की शैली का अभाव था। इसे प्राणचन्द चौहान तथा हृदयराम ने ही पूरा किया। हृदयरामजी पंजाब के रहने वाले थे। इनका 'हनुमन्नाटक' कवित्त तथा सवैयाँ की प्रौढ़ तथा प्रसिद्ध रचना है। इनके कुछ कवित्त तथा सवैयाँ उदाहरणस्वरूप नीचे दिये जाते हैं—

देखन जौ पाँऊँ तौ पटाँऊँ जमलोक, हाथ
दूजो न लगाऊँ, वार करौँ एक कर को।
मीजि मारौँ उर ते उखारि भुजदण्ड, हाड़
तोरि डारौँ बर अविलोकि रघुवर को ॥
कासौँ राग द्विज को, रिसात भहरात राम,
अति थहरात गात लागत है धर को।
सीता को सन्ताप मेदि प्रगट प्रताप कीनो
को है वह आप चाप तोर्यो जिन हरको ॥

एहो हनू ! कहाँ श्री रघुवीर कछू सुधि है सिय की छिति माँही।
है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसै तहँ रावन बाग की छाँही ॥
जीवति है ? कहिवेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमते बिछराहीं ?
प्राण बसै पद पंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं ॥

इस तरह राम-भक्ति के अन्तर्गत हनुमान की उपासना भी चल पड़ी। स्वयं गोस्वामी जी ने हनुमान की स्तुति में कई पद गाये हैं, और 'हनुमान बाहुक' की रचना की है। भक्ति-मार्ग में किसी पहुँचे हुए भक्त की ओर भक्त-वर्ग का विशेष आकर्षण होता है, और इसी से हनुमान-भक्ति का भी राम-भक्ति शाखा में आविर्भाव हुआ। गोस्वामी जी के पश्चात् अनेक लोगों ने रामायण लिखीं, पर तुलसी के रामचरित मानस के सामने वे फीकी साबित हुईं और ठहर न सकीं। केशव को कुछ लोग राम-भक्ति के अन्तर्गत ही मानते हैं। पर इनकी रचना भक्ति से ओत-प्रोत बिलकुल नहीं है, अतः इन्हें राम-भक्ति के अन्तर्गत नहीं

रखा जा सकता ।

विक्रम की १६ वीं तथा बीसवीं शताब्दी में अयोध्या के बाबा रामचरणदास, बाबा रघुनाथदास, रीवां के महाराज रघुराजसिंह तथा विश्वनाथसिंह इत्यादि ने रामचरित सम्बन्धी रचनाएँ कीं । राम-भक्ति शाखा के कवियों ने मुक्तक का आश्रय न लेकर प्रबन्ध को ही अधिक अपनाया, और सब प्रकार की रचना-पद्धतियों को अपनाकर हिन्दी साहित्य के अंगों की पूर्ति की । भक्ति का पूर्ण विकास राम-भक्ति शाखा द्वारा ही हुआ और इन्होंने श्रद्धा तथा प्रेम दोनों को भक्ति के लिए ग्रहण किया । कृष्ण-भक्ति शाखा के कवि केवल प्रेम को ही लेकर चले थे । अतः भक्तिमार्ग में विलामिता तथा इन्द्रियासक्ति आदि ने प्रवेश किया । बाद में कृष्ण-भक्ति का अवलम्बन लेकर अयोध्या के कुछ भक्तों ने इधर कुछ दिनों से 'पति-पत्नी' भाव की उपासना को जन्म दिया जिनमें रामचरणदास जी ही प्रमुख थे । इनके नाम का दल 'स्वसुखी' हुआ, तथा ये शृंगार इत्यादि करके सीता को अपनी सपत्नी ही मानने लगे । राम के लिए भी रामलीला की कल्पना की गई । इसी शाखा का आश्रय लेकर जीवारामजी ने 'तत्सुखी शाखा' को चलाया जिसमें पति-पत्नी के स्थान पर 'सखी-भाव' की ही उपासना रक्खी गई । इस रसिक-पंथ ने अयोध्या में काफी प्रभाव जमा रक्खा है और ये राम की 'चितवन' इत्यादि की प्रशंसा में अनेक गीत गाया करते हैं—

पिय हँसी रस रस कंचुकि खोलैं ।

इस तरह रामभक्ति की परम्परा भी श्रद्धा तथा प्रेम के सामंजस्य को छोड़कर केवल प्रेम का आश्रय लेकर ही पतन की ओर उन्मुख हुई । जिस लोक-संग्रह भावना, तथा मर्यादा का अपूर्व विधान गोस्वामी जी ने किया था उसने इस तरह इन दोनों का परित्याग कर दिया, तथा समाज को विशृंखलता की ओर ले जाने का प्रयत्न करने लगी । इन्होंने माधुर्य भाव का आश्रय लिया और 'रहस्य' इत्यादि को अपनाकर भक्तिमार्ग के वास्तविक रहस्य से दूर हो गए ।

राम-भक्ति की परम्परा बराबर चलती गई और आधुनिक युग में भी रामचरित के प्रसंगों को लेकर कई खण्ड-काव्यों की रचना हुई जिनमें मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' तथा पंचवटी आदि और रामचरित उपाध्याय के 'रामचरित चिन्तामणि' आदि उल्लेखनीय हैं।

कृष्ण-भक्ति शाखा

यद्यपि कृष्ण की उपासना की उत्पत्ति ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व हो चुकी थी पर बौद्ध-धर्म के विशेष प्रचार के कारण राम की उपासना की भाँति यह जोर न पकड़ सकी। हालाँकि महाभारत के प्रारम्भिक पर्वों में श्रीकृष्ण को अवतार रूप में स्वीकार नहीं किया गया था, पर गीता में, जो महाभारत के अन्तर्गत ही माना जाता है, उनको ईश्वर की सम्पूर्ण कलाओं से युक्त मानव अवतार माना गया, जो पृथ्वी का भार उतारने के लिए आये थे। साथ ही 'भागवत पुराण' के कारण कृष्ण भक्ति का स्रोत वेग से बह निकला और कृष्ण-भक्ति ने एक निर्धारित मार्ग पकड़ लिया। आगे चलकर इस शाखा में भी अनेक सम्प्रदाय हो गए।

शंकराचार्यजी ने निर्गुण रूप को ही ब्रह्म का वास्तविक रूप स्वीकार किया था तथा सगुण रूप को व्यावहारिक अथवा माया या मिथ्या-ज्ञान से युक्त ही माना था। अतः उनके अद्वैतवाद में भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं था। पर शंकर के बाद जितने आचार्य हुए उन्होंने शंकर के मायावाद से अपना पिण्ड छुड़ाना प्रारम्भ किया और भक्ति को प्रमुख स्थान प्रदान किया। यद्यपि रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत से भक्ति-सम्प्रदाय को स्थिर करना प्रारम्भ किया पर वह भी भक्ति-मार्ग के लिए उतना ठीक नहीं था। पर भागवत पुराण ने भक्ति के वास्तविक रूप को प्रकट किया। मध्वाचार्यजी जो दक्षिण के रहने वाले थे तथा जिन्होंने शंकर मत का पूर्ण रूपेण अध्ययन किया था, उसके ज्ञान-रूप के विरुद्ध हो गए और भागवत के सिद्धान्तों का समर्थन

करके उन्होंने भक्ति-मार्ग का निरूपण किया। इसी समय कृष्णोपासना में राधा तथा गोपिकाओं का समावेश हुआ, जिसके प्रवर्तक निम्बाकाचार्य और विष्णुस्वामी आदि थे। इन्होंने कृष्ण को परब्रह्म मानते हुए राधा तथा गोपिकाओं को उसी परब्रह्म कृष्ण का रूप स्वीकार किया। भक्ति के द्वारा पृथक् सत्ता वाले जीव का भी ब्रह्मरूप होना इन्होंने स्वीकार किया और इस तरह ये 'सायुज्य मुक्ति' के प्रवर्तक हुए। जयदेव इन्हीं के शिष्य थे जिन्होंने संस्कृत में गीत-गोविन्द की रचना करके अपूर्व भाषा का सौन्दर्य, मार्दव, माधुर्य तथा कोमल कान्त पदावली उपस्थित किया। विद्यापति पर भी निम्बाकाचार्य की स्पष्ट छाप है। यद्यपि इनका वर्णन वीरगाथा-काल में हो चुका है और वस्तुतः ये कृष्ण-भक्त न होकर शैव ही थे, पर अपने भक्ति के प्रेमोद्गार को प्रकट करने के लिए गीत-गोविन्द के आधार पर राधा तथा कृष्ण को नायक तथा नायिका मानकर इन्होंने अपने पदों तथा गेय गीतों की रचना की। इनका नख-शिख वर्णन बड़ा ही सजीव तथा मार्मिक है। विष्णुस्वामी भी मध्वाचार्य जी के शिष्य होते हुए भी शुद्धाद्वैतवाद के मूल प्रवर्तक कहे जाते हैं। आगे चलकर इन्हीं के सिद्धान्तों को चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्य आदि ने स्वीकार किया।

चैतन्य ने मध्व सम्प्रदाय के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर बाद में निम्बार्क तथा विष्णुस्वामी के मत को ग्रहण करके तथा शाक्तों की उपासना से प्रभावित होकर कृष्ण तथा राधिका की उपासना को चलाया, तथा कीर्त्तन प्रणाली को जन्म दिया। ये बंगाल में वैष्णव धर्म तथा राधाकृष्ण की उपासना के प्रमुख प्रवर्तक थे और कीर्त्तन करते-करते आत्मविभोर हो, संज्ञाशून्य हो जाते थे। वृन्दावन में इनके शिष्यों ने एक अलग 'गौडीय सम्प्रदाय' स्थापित कर दिया तथा वल्लभ-सम्प्रदाय पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा।

इस समय देश की राजनीतिक परिस्थिति भी कुछ विचित्र ही थी। देश में मुसलमानी साम्राज्य अच्छी तरह जम गया था, और दक्षिण में

हिन्दुओं का टिमटिमाता सूर्य केवल विजयनगर राज्य अवशेष रह गया था। जनता में इस्लाम के संस्कारों का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ रहा था और सूफियों ने भी माधुर्योपासना का विशेष प्रचार किया था, तथा चारों ओर इसकी धूम थी। निर्गुण-पन्थ वाले भी जनता का ध्यान वेद-शास्त्रों की मर्यादा से हटाने में संलग्न थे। दक्षिण के वल्लभाचार्य जी ने, जो वैष्णव धर्म के प्रधान प्रवर्तकों में से थे, इस परिस्थिति का सम्यक् अध्ययन करके स्वामी शंकराचार्य के अद्वैतवाद का, जिसमें केवल निरुपाधि निर्गुण ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता स्वीकार की गई थी, खण्डन करते हुए ब्रह्म के साकार रूप का समर्थन किया तथा उसमें सब धर्मों का आरोप करते हुए सारी सृष्टि को ही लीलारूपेण ब्रह्म की आत्मकृति मानी। माया को इन्होंने कोई स्थान नहीं दिया तथा जगत् को मिथ्या नहीं माना। श्रीकृष्ण को ही इन्होंने परब्रह्म माना तथा उन्हें ही 'पुरुषोत्तम' की संज्ञा प्रदान की। भक्ति के प्रतिपादन के लिए महत्त्व की भावना में निमग्न करने वाली 'श्रद्धा' का परित्याग करके इन्होंने 'प्रेम-भावना' के महत्त्व को स्वीकार किया तथा इसमें लोक-मर्यादा तथा वेद-मर्यादा का पुट देते हुए उन्होंने अपना 'पुष्टि-मार्ग' चलाया। उनका यह मत था कि सत्, चित् और आनन्द स्वरूप ब्रह्म अपने इन रूपों को इच्छानुसार कभी तो व्यक्त करता है और कभी अव्यक्त कर देता है। मायामय जगत् भी ब्रह्ममय है, क्योंकि माया तो एक उसकी शक्ति-मात्र है। जीव में जब इन तीनों रूपों का आविर्भाव होता है तब वह अपने शुद्ध ब्रह्मस्वरूप में आ जाता है। ऐसा ईश्वर की कृपा-मात्र से ही होता है। उसी से जीव को ऐसी पुष्टि मिलती है और इसकी प्राप्ति के लिए भक्तिमयी उपासना ही उपयुक्त है। यही 'पुष्टि-मार्ग' का सार है।

वल्लभाचार्य जी ने समस्त भारत का पर्यटन करके अपने मत का प्रचार किया तथा जीव को कृष्ण रूपी परब्रह्म की लीलामयी सृष्टि में प्रवेश करने का उपदेश दिया। अन्त में आपने अपने आराध्य देव कृष्ण

की जन्मभूमि मथुरापुरी में जाकर अपना आसन जमाया तथा गोवर्द्धन पर्वत पर कृष्ण का मन्दिर बनवाकर भजनोपदेश करने लगे। इनकी रचित पुस्तकों में 'पूर्व मीमांसा-भाष्य', 'उत्तर मीमांसा भाष्य' अथवा 'अणुभाष्य', 'श्रीमद्भागवत की सूक्ष्म टीका' अथवा 'सुबोधिनी टीका', 'तत्त्व दीप निबन्ध' तथा सोलह छोटो-छोटे प्रकरण ग्रन्थ हैं।

वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित यह कृष्ण-भक्ति शाखा भगवान् के धर्म-स्वरूप तथा लोक-रक्षक और लोक-रंजन रूप को छोड़कर केवल मधुर स्वरूप तथा प्रेम भावना को प्रधानता देकर ही चली, जिसमें कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की विशद व्यंजना की गई। समाज का प्रवाह किधर जा रहा है इसकी रंचमात्र भी परवाह न करके रसोन्मत्त तथा विषय-वासना की ओर आकर्षण करने वाली शृङ्गारमयी छटा की ही अभिव्यंजना हुई। गोपी के साथ कुञ्जों में अठखेलियाँ करने वाले कृष्ण की प्रशंसा में ही गीत गाये गए। इस शाखा के कवियों ने लोक-व्यवस्था, सामाजिक मर्यादा तथा पारिवारिक जीवन की उपेक्षा की। इन्होंने कृष्ण के मधुर रूप को ही अपनाया, तथा इसमें प्रबन्ध-काव्य के लिए आवश्यक जीवन की अनेकरूपता इत्यादि विद्यमान नहीं हैं। जीवन की जितनी विविध रूपता तथा सर्वाङ्गीणता कृष्ण के जीवन में विद्यमान थी, उतनी सम्भवतः विश्व के अन्य किसी महापुरुष में न होगी। हिन्दी के इस शाखा के कवियों ने ऐसे महान् तथा व्यापक चरितनायक को स्वीकार करके भी उनके इन गुणों से कुछ भी लाभ नहीं उठाया, और अपने अनुसार उस व्यापक रूप को संकीर्णता के साँचे में ढाल दिया। फलतः फुटकल तथा शृङ्गारी पदों की ही रचना हो पाई। अतः कृष्ण तुलसी के राम की भाँति सुशील, मर्यादा पुरुषोत्तम तथा सदाचार के रूप न बन सके, तथा हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण होकर अनन्त सौन्दर्य के सागर रूप कृष्ण महाभारत के कृष्ण की भाँति लोक-रक्षक तथा धर्म-संस्थापक न हो सके। अतः वल्लभ द्वारा प्रतिपादित इस शाखा में भोग-विलास तथा राग ही प्रचुर मात्रा में प्रविष्ट हुआ तथा मन्दिरों की प्रशंसा 'केसर

की चन्कियाँ चलै हैं' कहकर होने लगी। पर इन कवियों ने सङ्गीत का सरस पुट देकर शेष पदों में जो हिन्दी-साहित्य का प्रेम-सम्पन्न स्रोत बहाया, उसने मुरझाते हुए हिन्दू-जीवन को सरस और प्रफुल्लित बना दिया।

कृष्ण-भक्ति शाखा के कवियों ने अपनी रचना के लिए ब्रजभाषा को ही अपनाया। कोमलता की दृष्टि से संस्कृत तथा बँगला के पश्चात् ब्रजभाषा का ही स्थान है। पर उस समय समाज में प्रचलित तथा व्यवहृत विदेशी भाषाओं के शब्द भी ग्रहण किये गए। इनके काव्य ने भावों की अपेक्षा लय या स्वरों के आरोहावरोह को प्रधानता प्रदान करके सङ्गीत का रूप ग्रहण किया और इस तरह अर्थ की अपेक्षा नाद-सौन्दर्य के विशिष्ट होने से इस साहित्य में अनेकरूपता न आकर एक रूपता का ही अधिक समावेश रहा। इस साहित्य पर सूफियों की तन्मयता तथा उन्माद इत्यादि का भी प्रभाव पड़ा और इसके दर्शन हमें मतवाली मीरा तथा चैतन्य महाप्रभु आदि में होते हैं।

वल्लभ के सामने कृष्ण-भक्ति के अन्य छोटे-बड़े सम्प्रदाय न उठर सके और इसके वेग में विलीन हो गए। इनकी शिष्य-परम्परा का यह नियम है कि गुरु-पुत्र ही गद्दी का अधिकारी हो सकता है। इनके पुत्र तथा शिष्य श्री विठ्ठलनाथजी ने अपने चार शिष्य चतुर्भुजदास, नन्ददास गोविन्द स्वामी और छीतस्वामी तथा गुरु तथा पिता वल्लभाचार्य जी के चार शिष्य श्री सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास और कुम्भनदास, इन सबको लेकर प्रसिद्ध अष्टछाप की स्थापना की, जिसने कृष्ण-काव्य का एक सुन्दर महल रच दिया। राधावल्लभीय, गौड़वैष्णवीय एवं सखी आदि अन्य सम्प्रदायों के भक्त-कवियों ने भी अपने-अपने सम्प्रदायों की विशेषताओं के न्यूनाधिक रूप में उक्त 'अष्टछाप' का अनुकरण किया और कृष्ण-काव्य को विशद रूप दे दिया। कृष्ण-काव्य, कारों में सूरदासजी सर्वाग्रगण्य हैं।

सूरदास—वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी तथा अपनी शाखा के प्रति-

निधि कवि तथा शृङ्गार और वात्सल्य-वर्णन में विशिष्ट सूरदासजी का जीवन-वृत्त भी अन्धकार के गर्त में पड़ा है, तथा इनके जन्म इत्यादि के विषय में अनेक मत प्रचलित हैं। इनका जीवन-वृत्त सम्भवतः वल्लभ के पौत्र गोकुलनाथजी के समय में लिखा हुआ 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', 'भक्तमाल' तथा इनकी रचित पुस्तकें 'सूर-सारावली' तथा 'साहित्य-लहरी' और इनकी शाखा में प्रचलित परम्पराओं से प्राप्त होता है। यद्यपि परम्परानुसार इनका जन्म संवत् १५२६ माना जाता है पर सूर-सारावली में एक पद है—

गुरु प्रसाद होत यह दरसन, सरसटि बरस प्रवीन ।

शिव विधान तप करेउ बहुत दिन, तऊ पार नहीं लीन ॥

इससे यही स्पष्ट प्रकट होता है कि ६७ वर्ष की आयु में सूर ने सूर-सारावली लिखी। साहित्य-लहरी में इनके दृष्ट-कूट पदों का संग्रह भी है। इसमें संवत् १६०७ का उल्लेख मिलता है। इसका रचनाकाल सूर ने इस तरह दिया है—

मुनि मुनि रसन के रस लेख ।

दसन गौरीनन्द को लिखि सुबल संवत् प्रेख ॥

अर्थात्, मुनि—७, रसन—०, रस—६, दसन गौरीनन्द—१, यानी संवत् १६०७; इस भाँति संवत् १६०७ विक्रमी में इन्होंने 'साहित्य-लहरी' समाप्त की। सूर ने पहले 'सूरसागर' लिखा, उसके बाद 'सूर-सारावली' और अन्त में 'साहित्य-लहरी' की रचना की। साहित्य-लहरी उन्होंने संवत् १६०७ में लिखी, जब वह ६७ वर्ष के हो चुके थे। अतः इस अनुमान के आधार पर इनका जन्म-संवत् १५४० निश्चित किया जाता है। मृत्यु के विषय में 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' से यही पता चलता है कि इनकी मृत्यु गोस्वामी विट्ठलनाथजी के सामने 'पारसोलो' नामक गाँव में हुई। विट्ठलनाथजी की मृत्यु संवत् १६४२ में हुई। यदि हम सूर की अवस्था का अन्दाजा यह लगाएँ कि ये ८० या ८२ वर्ष जीवित रहे होंगे तो इनका मृत्यु-संवत् १६२० के आसपास ही पड़ता है। इनके

जन्म-स्थान के विषय में भी मतभेद ही है और यह 'रुनकता' अथवा 'सीढ़ी' माना जाता है। साहित्य-लहरी के एक पद में उनकी वंश-परम्परा दी हुई है जिसके अनुसार ये चन्द वरदाई के वंशज तथा ब्रह्मभट्ट ठहरते हैं। पर विद्वान् इस पद को बाद का जोड़ा हुआ मानते हैं। पर कुछ विचारक 'भक्तमाल' तथा 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' से प्रभावित होकर इन्हें सारस्वत ब्राह्मण रामदास का पुत्र मानते हैं। उक्त वार्ता से यह भी पता चलता है कि ये पहले गऊघाट पर एक वैरागी साधु के वेष में रहा करते थे और वहीं पर सर्वप्रथम इन्हें आचार्य वल्लभ से भेंट हुई थी, तथा इन्होंने अपना एक पद उन्हें गाकर सुनाया था। उनकी निपुणता तथा भक्ति से आचार्यजी अत्यधिक प्रभावित तथा प्रसन्न हुए और उन्हें भागवत का अनुवाद भाषापदों में करने की आज्ञा दी, और पूरनमल खत्री द्वारा निर्मित गोवर्द्धन पर्वत पर के श्रीनाथ मन्दिर में कीर्तन करने का सेवा-भार दिया। यहीं से ये वल्लभ-सम्प्रदाय में आये। तब से बराबर ये इसी मन्दिर की सेवा में रहे। कुछ लोग इनका सम्बन्ध वित्त्वमंगल वाली किंवदन्ती तथा अकबर से जोड़ते हैं जो असंगत-सी जान पड़ती है।

इनके विस्तृत ज्ञान तथा प्रकृति-निरीक्षण एवं अपूर्व शृङ्गार तथा रूपादि का वर्णन विद्वन्मंडली के समस्त यही सिद्ध करने का सतत प्रयत्न करता है ये जन्मान्ध नहीं थे, हालाँकि प्रसिद्ध ऐसा ही है। ऐसा भी कहा जाता है कि ये जन्म से अन्धे थे तथा एक दिन कुएँ में गिर पड़े थे। तब इनके आराध्यदेव श्रीकृष्ण ने इन्हें हाथ पकड़कर बाहर निकाला था, और उस समय इन्हें दृष्टि भी प्राप्त हो गई थी, पर इन्होंने अपनी यही कामना प्रकट की कि जिन आँखों से इन्होंने परमब्रह्म 'कृष्ण' का दर्शन किया वे आँखें इस संशरणशोल संसार की कृत्रिम वस्तुओं का दर्शन न कर सकें। ऐसा भी प्रसिद्ध है कि इनकी प्रसिद्धि चारों ओर फैली हुई थी और तानसेन से भी इनकी भेंट हुई थी और इनके विषय में उन्होंने कहा था—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर ।

किधौं सूर को पद लग्यो, बैधै सकल सरीर ॥

इसका उत्तर इन्होंने यह दिया था—

विधना अस जिय जानि कै, सेषहिं दिये न कान ।

धरा मेरु सब डोलतो, तानसेन की तान ॥

इन्हें 'अष्टछाप' के प्रमुख कवियों में प्रधान स्थान दिया गया ।

यद्यपि इनके द्वारा रचित पुस्तकों में सूरसागर, सूर-सारावली, साहित्य-लहरी, नल-दमयन्ती, पद-संग्रह, नागलीला इत्यादि बताए जाते हैं, पर प्रथम तीन तो निश्चित ही उनकी रचनाएँ हैं और दूसरी कृतियों के विषय में मतभेद है । सूरसागर ही इनकी प्रधान रचना है तथा ऐसी प्रसिद्धि है कि इसमें सवा लाख पद हैं, पर अभी तक पाँच हजार के लगभग ही पद प्राप्त हो सके हैं । इनको विनय, बाललीला, रूप माधुरी, मुरली माधुरी तथा भ्रमरगीत इत्यादि में बाँटा जाता है । ये 'श्रीमद्भागवत' का अविरल अनुवाद-मात्र नहीं हैं, प्रत्युत उसका केवल कथा के लिए आधार-मात्र लिया गया है, और उसे कवि ने अपनी स्वतन्त्र भावना से निराले साँचे में ढालकर अलंकृत और सुसज्जित किया है । पहले नौ स्कन्धों का हम केवल चलता ही वर्णन पाते हैं, किन्तु दशम स्कन्ध की कथा विस्तार के साथ गाई गई है । इसमें कृष्ण-जन्म से प्रारम्भ करके मथुरा जाने तक की कथा अत्यन्त मनोहर पदों की धारा में बहाई गई है । यह ब्रजभाषा का सबसे महान् काव्य है तथा इसमें रस, रस का परिपाक तथा काव्य के शास्त्रीय गुणों का सन्निवेश जिस पूर्णता तक पहुँचा है उसके सामने रीतिकालीन आचार्यों की शृङ्गार और वात्सल्य की उक्तियाँ फीकी लगती हैं ।

सूर ने अपने समय की चलती हुई ब्रजभाषा को अपनाया । यद्यपि यह परिपक्व तथा साहित्यिक भाषा है, फिर भी इसमें यत्र-तत्र मुहकम, भसकत, ताजी, कुलही तथा जहाज आदि विदेशी शब्दों का प्रयोग हुआ है । तब भी हम इसे विशुद्ध ब्रजभाषा कह सकते हैं । कुछ

थोड़े से स्थलों को छोड़कर, जिनमें कवि की शब्द-चातुरी के कारण कठिनाई पैदा हो गई है, शेष भाग प्रसादगुण-सम्पन्न, मधुर और सरस है। सङ्गीत की लय और ध्वनि इसमें बराबर गूँजती रहती है। यद्यपि व्याकरण की अशुद्धियों का भी समावेश है, फिर भी संयत, परिष्कृत और स्वाभाविक भाषा का प्रवाह मन्द, मन्थर किन्तु गम्भीर गति का सूचक है, और जयदेव तथा विद्यापति की कोमलकान्त पदावली का अनुसरण किया गया है। राधा और कृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य में निमग्न महाकवि की भाषा भी जैसे उसी रस में निमग्न हो उठी है। इनकी रचना में अलंकारों का भी समावेश प्रचुर मात्रा में है, तथा अनुप्रास, श्लेष, यमक इत्यादि शब्द-लंकार तथा उपमा, सांगरूपक, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की भी कमी नहीं है। इन्होंने गीत-शैली का ही अनुसरण किया है तथा विद्यापति की स्पष्ट छाप इनके ऊपर लक्षित होती है। पर विद्यापति के 'राधाकृष्ण-प्रेम' सम्बन्धी गीतों में नायिका-भेद, नखशिव-वर्णन तथा अभिसार आदि को ही प्रधानता प्रदान की गई है, पर सूर के गीत प्रेमपूर्ण होते हुए भी भक्ति की भव्य भावनाओं से भूषित हैं।

कृष्ण-भक्ति शाखा के कवि कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर चले थे। ये तो अपने ही रंग में रँगे थे। अतः सूर में भी तुलसी की भाँति अपूर्व लोक-भावना का समावेश न हो सका। साथ ही गीत और मुक्तक काव्य के योग्य इन्होंने भी अपने आराध्यदेव कृष्ण की बाललीला तथा यौवन-लीला को ही अपनाया तथा शृङ्गार एवं वात्सल्य वर्णन को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। इस तरह ये हिन्दी-गगन के सूर्य कहलाने के अधिकारी हुए। यद्यपि इनका काव्य-क्षेत्र इतना विस्तृत न हो पाया जिसमें मानव-जीवन की प्रत्येक दशा का सन्निवेश हो सके, पर जीवन के जिस भाग को इन्होंने अपनाया, उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया। इनके बाल-वर्णन बहुत ही वास्तविक हैं। लड़कों का मणि के खम्भों में अपनी परछाईं देखना, मचलना, स्वाभाविक चेष्टाएँ

इत्यादि का बड़ा ही सजीव वर्णन है—

‘सिखवत चलन जसोदा मैया ।

अरवराइ कर पानि गहावति, डगमगाव धरै पैयाँ ॥

तथा

मैया कबहि बढैगी चोटी ।

कितिक बार मोहि दूध पियत भये यह अजहूँ है छोटी ।

बाल-वर्णन के समान ही शृङ्गार भी पराकाष्ठा को पहुँच गया है । इसमें संयोग तथा वियोग दोनों का विस्तृत पुट है । श्रीकृष्ण के गोकुल तक रहने का वर्णन पूर्ण संयोग का है तथा इसमें चौर-हरण-लीला, माखन-लीला इत्यादि मुख्य हैं । इसके साथ-ही-साथ राधा तथा कृष्ण का रूप-वर्णन भी द्वितीय है तथा इसके विषय में अनेकों पद कहे गए हैं और गोपियों के अतुलनीय प्रेम का भी वर्णन है । आँख, मुरली इत्यादि पर भी अनेकों उक्तियाँ कही गई हैं । इसी सम्बन्ध में सूर ने वास्तविक स्वर्गलोक की स्थापना की है ।

संयोग के पश्चात् वियोग वर्णन भी अत्यन्त सुन्दर है । यह वर्णन कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद होता है । कृष्ण गोपियों को भूल जाते हैं और इधर गोपियाँ विरह में व्याकुल हो जाती हैं । विरह की प्रत्येक दशा का मार्मिक चित्रण हम सूर की रचनाओं में पाते हैं, यहाँ तक कि वृन्दावन की प्रकृति भी गोपियों के साथ विरहोन्मत्त हो उठी है । सूर का वियोग वर्णन ‘भ्रमरगीत’ कहा जाता है जो सूर-सागर का ही एक अंश है । इसमें गोपियों के मुख से निगुण मत की नीरसता का प्रतिपादन करके सगुण को उससे श्रेष्ठ कहा गया है, तथा निगुण के प्रतिपादक उद्भव को बिलकुल मूक-सा कर दिया गया है—

निगुन कौन देस को बासी

मधुकर हँसि समुझाय, सौह दै बूझति साँच न हाँसी ॥

उद्भव के निगुण ब्रह्म से गोपियों को सगुण कृष्ण ही अच्छे लगते हैं, अतः श्रीकृष्ण के लोक-रक्षक रूप को ही इन्होंने स्वीकार किया है ।

इस भाँति मनाविज्ञान के अनुसार हृदय के कोनों को सूर ने अछूता नहीं छोड़ा है। साथ ही इनका काव्य तात्कालिक परिस्थिति से भी अपूर्व प्रभावित है तथा समाज को ईश्वर का माधुर्य रूप दिखाकर अपने को उसमें डुबो देने का आदेश दिया गया है। यह अपने क्षेत्र में बेजोड़ तथा अद्भुत प्रतिभा वाले कवि हैं। साथ ही भाषा की माधुरी भी इनकी कृतियों में पूर्ण प्रतिष्ठित है। हिन्दी-काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ। अतः चित्तवृत्तियों के चातुर्यपूर्ण चित्रण, भक्ति की अनन्यता, काव्यानन्द की माधुरी, निर्मल भावों की अनवरत धारा, सरसता का अपूर्व प्रवाह तथा भाव-चित्रण की यथार्थता के कारण सूरदास हिन्दी कविता के प्राण हैं, एवं कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रमुख कवि हैं। इन्हीं की राधा-कृष्ण-सम्बन्धी भक्ति रीतिकालीन कवियों के शृङ्गार-वर्णन की उत्तरदायी हुई।

नन्ददास—प्रायः सूरदासजी के समकालीन ही नन्ददासजी 'अष्ट-छाप' के ही कवि हुए, जिनका वर्णन दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता से भी मिलता है। इन्होंने गोस्वामी विठ्ठलनाथजी से शिक्षा ली थी। इनकी रचित पुस्तकों में 'रासपंचाध्यायी' और 'अमरगीत' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, यद्यपि आपने 'भागवत दशम स्कन्ध', 'रुक्मिणी-मंगल', 'सिद्धान्त-पंचाध्यायी', 'रूप-मंजरी', 'मान-मंजरी', 'विरह-मंजरी', 'नाममाला', इत्यादि अनेक ग्रन्थों की रचना की। इनका 'अमरगीत' विरह-वर्णन में सर्वोत्कृष्ट है, तथा निगुण का खण्डन करके सगुण ही की प्रतिष्ठा इसमें की गई है। इनके उद्भव मूक न होकर तार्किक हैं। इन्होंने सूर की भाँति चलती भाषा को न अपनाकर अनुप्रास तथा संस्कृत के वाक्यविन्यासों से युक्त भाषा को ही ग्रहण किया है तथा इसमें माधुर्य, लालित्य और मार्दव पूर्णरूपेण विद्यमान हैं। इनका हृदय बड़ा ही स्वच्छ, सरस तथा भावुक था, इसलिए रचना में भी हम इसका सरस पुट पाते हैं। अतः यह ठीक ही कहा गया है कि—'सब कवि गढ़िया नन्ददास जड़िया।'।

आचार्य वल्लभ के शिष्य कृष्णदासजी ने भी राधा-कृष्ण के प्रेम को ग्रहण करके शृंगार-रस को प्रधानता देकर अपनी कविता की तथा 'अष्टछाप' में स्थान पाया । इनके गुरुभाई परमानन्ददास भी थे जो अपने आराध्यदेव में अपने को खोकर अपनी रचना करते थे । इनके अधिकतर पद फुटकल ही हैं । 'अष्टछाप' के ही अन्तर्गत कृष्ण की बाल-लीला तथा प्रेमलीला सम्बन्धी फुटकल पद लिखने वाले कुम्भनदास, 'द्वादशयश', 'भक्ति', 'प्रताप', 'हितजू को मंगल' इत्यादि ग्रन्थों के प्रणेता चतुर्भुजदास, ब्रजभूमि के अनन्य प्रशंसक तथा फुटकल पदों में कृष्ण का गुणगान करने वाले छीतस्वामी तथा प्रसिद्ध गवैया गोविन्दस्वामी इत्यादि कवि हुए, जिन्होंने कृष्ण-भक्ति शाखा के निर्मल भक्ति-प्रवाह के स्रोत को न सूखने दिया ।

हित हरिवंश ने अष्टछाप से बाहर रहकर भक्ति-काव्य की रचना की । ये संस्कृत के अच्छे विद्वान तथा 'राधावल्लभी सम्प्रदाय' के प्रवर्तक हुए । इनकी रचना बड़ी ही मधुर है । ये माध्व-सम्प्रदाय के ही अन्तर्गत थे तथा इनके फुटकल पद 'हित चौरासी' में संग्रहीत हैं । इनके शिष्य हरिराम व्यास, सेवकजी तथा ध्रुवदास इत्यादि हुए जिनकी लेखनी ने कृष्ण-भक्ति शाखा की अपूर्व वृद्धि की तथा उसके वृत्त को हरा ही रखा । 'गौडीय वैष्णव' सम्प्रदाय के अन्तर्गत चैतन्य महाप्रभु के शिष्य गदाधर भट्टजी हुए जो दक्षिणी ब्राह्मण थे तथा जिन्हें संस्कृत साहित्य का अच्छा ज्ञान था । ब्रजभाषा में आपने अत्यन्त सुन्दर तथा उत्कृष्ट रचनाएँ कीं । आपका रचना-काल सूरदास के समय में अथवा इससे भी पहले माना जाता है । पद-विन्यास आपका अत्यन्त सुन्दर है ।

श्रीकृष्ण की अनन्य सेविका मीराबाई ने लोक-समाज तथा परिवार के बन्धनों को तोड़कर अपने को श्रीकृष्णमय कर दिया । इनका जन्म-संवत् १५७३ तथा मृत्यु-संवत् १६०३ माना जाता है । यह भारत के प्रसिद्ध भक्तों में से हैं । इनका विवाह उदयपुर के ज्येष्ठ राजकुमार श्री भोजराज के साथ हुआ था, पर विवाह के थोड़े समय के पश्चात् ही यह

विधवा हो गई । अब इन्होंने अलौकिक प्रेम को अपनाया तथा श्रीकृष्ण को अपना आराध्यदेव स्वीकार किया । इनके भावों में हम एक प्रकार की विदग्धता पाते हैं । इनके ऊपर सूफियों की उपासना की स्पष्ट छाप है तथा रहस्यवादी योजना का भी पुट है । अतः इनको भी उपासना माधुर्य भाव की हो गई और कृष्ण को इन्होंने अपना अनन्य पति माना । 'गर वस्त्र की खाहिश हो हस्ती को फना करना' इसकी यह स्पष्ट-वक्ता थीं ।

गगन-मण्डल पै सेज पिया की किस विधि मिलना होय ।
यह स्वयं वियोगिनी थीं । अतः यह स्पष्ट-वक्ता तथा प्रियतम की खोज में दीवानी थीं ।

हरि मैं तो प्रेम दीवाणी मेरा दरद न जाने कोय ।
इनके हृदय का सच्चा उद्गार है । इनका प्रिय अथवा ईश्वर-वियोग अपनी अन्तिम सीमा तक जा पहुँचा है—

तुव देखे बिन कल न परत है तलफ तलफ जिय जासी ।
तोरे खातिर जोगिन हूँगी, करवट लूँगी कासी ॥
इनकी तड़पती हुई प्रेम की पीरयुक्त रचनाओं में वचन विदग्धा तथा प्रेम की मार्मिक अभिव्यंजना है ।

मीरा कृष्ण की उपासिका ही थीं । कविता करना इनका मुख्य उद्देश्य नहीं था, अतः इनकी रचना सच्चे हृदय की आन्तरिक अनुभूतियों का संग्रह ही है, फिर भी भाषा में सरसता, मधुरता एवं प्रवाह है । इनके कुछ पदों की भाषा तो शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है और कुछ की राजस्थानी-मिश्रित । समस्त पद गेय हैं । संगीत के क्षेत्र में इनके भजनों का अधिक आदर है । इनकी रचना में विप्रलम्भ शृंगार का प्राधान्य है । इनके द्वारा लिखित चार ग्रन्थ प्रसिद्ध बताए जाते हैं— 'नरसीजी का मायरा', 'गीतगोविन्द-टीका', 'राग-गोविन्द', 'राग सौरठ के पद' । स्त्री कवियों में इन्हें श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है ।

मुसलमान होकर भी रसखान ने अनेकों को श्रीकृष्ण के प्रेम में

तल्लीन किया और उन पर अपना सब-कुछ न्योछावर कर दिया। यह दिल्ली के पठान सरदार थे और कृष्ण के प्रेम में विरक्त होकर विट्ठल-नाथ के शिष्य हो गए थे। ये बड़े प्रेमा तथा भावुक थे। इनका जन्म संवत् १६१२ और मृत्यु-संवत् १६८२ माना जाता है। सवैया, कवित्त और दोहा-शैली में, मधुर और सरस ब्रजभाषा में, स्वाभाविकता, स्वच्छता और तल्लीनता के साथ मुक्तक काव्य के रूप में इन्होंने सुन्दर रचना की है। 'प्रेम वाटिका' (दोहों में शुद्ध प्रेम के निरूपण पर) और 'सुज्ञान रसखान, (कवित्त सवैयाओं में भक्ति और प्रेम से भरा हुआ मुक्तक काव्य) इनके प्रसिद्ध हैं। भाषा में बोलचाल का स्वाभाविक सौन्दर्य होते हुए भी अनुप्रास की सुन्दर छटा विराजमान है।

आगे चलकर इस शाखा में 'टही सम्प्रदाय' के संस्थापक तथा तानसेन के गुरु स्वामी हरिदास, गौड़ोय सम्प्रदाय के सूरदास, मदन-मोहन तथा श्रीभट्ट आदि हुए, जिन्होंने श्रीकृष्ण के प्रेम में वशीभूत होकर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि की। पर काल के चक्र के अनुसार इस शाखा में कुछ शिथिलता आने लगी। अकबर ने प्रत्येक सम्प्रदाय के प्रति उदार नीति अपनाई थी। प्रत्येक को उपासना तथा मन्दिर-निर्माण इत्यादि की स्वतन्त्रता थी। उसके साथ ही यह वस्तु चली गई और राजनीतिक परिवर्तन के स्पष्ट प्रभाव धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों पर हुए। इसके साथ ही देश में धन-सम्पत्ति की भी अत्यधिक वृद्धि हो चली थी। अतः हिन्दी काव्य-धारा भी समय की माँग के अनुसार मुड़ी, और उसने धार्मिक क्षेत्र को छोड़कर रीति तथा शृंगार का आश्रय लिया। इस तरह अकबर के पश्चात् ही हिन्दी कविता दूसरी ओर मुड़ने लगी, जिस रास्ते का निर्धारण इसने अकबर के समय में ही कर लिया था। स्वयं अकबर ने मुगल साम्राज्य को दृढ़ बनाने के लिए आम जनता की भाषा हिन्दी को आश्रय प्रदान करके उसके कवियों और साहित्य को अच्छा प्रोत्साहन दिया। यद्यपि ये कवि भक्ति की धारा में न बह सके, पर भक्तिकाल के फुटकल कवियों

में हम इन्हें स्थान प्रदान कर सकते हैं। कुछ कवि तो अकबर के दरबार में रहने से अत्यधिक प्रभावित होकर एक विशेष लक्ष्य की ओर चले, और कुछ साहित्य की सामयिक परिस्थितियों को अपनाकर अपने ही रंग में रँगेंगे। कविवर रहीम, नरहरि बंदाजन, टोडरमल, बीरबल, गंग, मनोहर कवि, होलराय इत्यादि अकबरी दरबार से बराबर सम्बन्धित रहे तथा शाही दरबार से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपेण प्रभावित भी रहे।

रहीम एक उच्च पद पर होते हुए भी हिन्दी की ओर आकर्षित हुए थे। यह बड़े ही साहित्य-सेवी, भावुक तथा अरबी, फारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे, तथा ऐसा कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास जी से इनकी मित्रता थी। ये ब्रज तथा अवधी दोनों भाषाओं पर समान रूप से अधिकार रखते थे। यद्यपि इन्होंने नीति-सम्बन्धी अधिकतर दोहे ही लिखे हैं पर वरवै, कवित्त, मयैया, सोरठा, पद इत्यादि सभी पर अपनी लेखनी चलाई है। इनकी उक्तियाँ बड़ी ही लुभावनी हैं। इनकी कविता मार्मिकता से भरी हुई है तथा इनके हृदय ने संसार के वास्तविक व्यवहारों को पहचानकर उसमें गोता लगाया है। अतः सर्वसाधारण ने तुलसी की भाँति इनकी भी रचनाओं को सच्चे हृदय से अपनाया। इनके अन्दर हमें कोरी कल्पना ही नहीं प्रत्युत वास्तविकता के भी दर्शन होते हैं। इन्होंने 'रहीम सतसई,' 'वरवै नायिका भेद,' 'शृंगार-मोरठ,' 'मदनाष्टक,' 'रासपंचाध्यायी' इत्यादि लिखे। साथ ही हिन्दी, संस्कृत तथा फारसी की खिचड़ी में अपनी रचना भी की।

गंग ब्रह्मभट्ट थे तथा अकबर के दरबारी कवि थे। इनको हाथी द्वारा कुचलवा के मरवाया गया था। इनके विषय में प्रसिद्ध है—

तुलसी गंग दोऊ भये सुकविन के सरदार।

इनके पद इधर-उधर बिखरे हुए मिलते हैं, कवियों में इनका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। इनकी रचना व्यंजनावलित, वैचित्र्यमयी और भावपूर्ण है, तथा इसमें वीर और शृंगार का अनुपम पुट उपस्थित है।

अन्योक्तियाँ इनकी भी बड़ी मार्मिक और चुटीली हैं। कुछ गद्य भी इन्होंने लिखा है।

अकबर के दरबारियों में टोडरमल, बीरबल इत्यादि भी कवि हो गए हैं। इनके अतिरिक्त नरोत्तमदासजी ने परिमार्जित तथा व्यवस्थित भाषा में बहुत ही सरस तथा हृदयग्राही 'सुदामा-चरित' लिखा, जिसमें कृष्ण की दीनवत्सलता तथा करुणा का सजीव चित्र अंकित किया। सेनापति ने कृष्ण-भक्ति शाखा के इसी शिथिल युग में 'कवित्त-रत्नाकर' की रचना की, जिसका ऋतु-वर्णन अत्यन्त ही प्रसिद्ध है। इसमें प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण, उसके चित्रण का चातुर्य और वर्णन की कला-कुशलता सराहनीय है। यह होते हुए भी उसकी स्वाभाविकता तथा सुन्दरता को बाधा नहीं पहुँचती—

सेनापति ग्रीष्म तपति ऋतु भीष्म है।

मानो ऋदवानल सों बारिधि जरत है॥

इनके अतिरिक्ति छीहल, लालचदास, कृपाराम, आलम, बलभद्र-मिश्र, जमाल, कादिर, मुबारक, सुन्दर, बनारसीदास इत्यादि हुए जिन्होंने शृंगार नीति, नखशिख वर्णन इत्यादि को अपनाकर हिन्दी के काव्य-क्षेत्र को विकसित किया। पर इससे यह कदापि न समझना चाहिए कि भक्ति का स्रोत सूख गया। कृष्ण तथा राम-भक्ति-सम्बन्धी कविता बराबर होती रही और आधुनिक युग में भी पं० सत्यनारायण कविरत्न, अयोध्यासिंह उपाध्याय इत्यादि ने भी कृष्ण-भक्ति का अवलम्बन लिया।

यों तो हिन्दी कविता कृष्ण-भक्ति शाखा के बाद शिथिल होकर शृंगार तथा विलासिता का पुट लेकर अग्रसर हुई और इसने रीतिकाल को जन्म दिया और श्री केशवदास जी इसके प्रथम आचार्य हुए, पर केशवदास को हम भक्ति-काल का अन्त तथा रीतिकाल के प्रादुर्भाव के मध्य ही स्थान प्रदान कर सकते हैं, क्योंकि इन्हें एक दूसरे से बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता। इन्होंने एक का आश्रय तथा दूसरे

का आचार्यत्व ग्रहण किया है। अतः रीतिकाल के प्रथम आचार्य होते हुए भी समय-विभाग के अनुसार यह भक्ति-काल में पड़ते हैं और इन्होंने तत्सम्बन्धी ग्रन्थ 'रामचन्द्रिका' भी लिखा है।

आचार्य केशवदास—यह सनाढ्य ब्राह्मण काशीनाथजी के पुत्र तथा कृष्णदत्त के पौत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१२ और मृत्यु संवत् १६-७४ के लगभग हुई। ये ओड़छानरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीत सिंह के आश्रय में रहते थे, और उनकी सभा में इनका बहुत ही सम्मान था। इन्हीं के कारण मुगल सम्राट अकबर ने इन्द्रजीतसिंह पर किये गए एक करोड़ रुपये के जुर्माने को माफ कर दिया था। इनके वंश में परम्परा से संस्कृत के विद्वान् होते आये थे। इन्होंने स्वयं लिखा है—

भाषा बोल न जानहीं जिनके घर को दास।

ता मह कविता करत है जड़मति केशवदास ॥

इनके पहले ही कवियों का ध्यान रस, अलंकार तथा अन्य काव्याङ्गों के निरूपण की ओर लग चुका था, अतः केशव के लिए वातावरण उपस्थित ही था। संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित होने के कारण शास्त्रीय पद्धति से भाषा में काव्य-रचना को ओर इनका झुकाव हुआ। इन्होंने काव्य में अलंकार और चमत्कारपूर्ण कौशल प्रधानता प्रदान की—

जदपि सुजाति सुलच्छनी सुवरन सरस सुवृत्त।

भूषन बिनु न बिराजई कविता, बनिता मित ॥

इनके द्वारा लिखित सात ग्रन्थ प्राप्य हैं—कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, बीरसिंहदेव चरित; विज्ञान गीता, रतनबावनी और जहाँगीर रस चन्द्रिका। 'कविप्रिया' अलंकार-ग्रन्थ है और 'रसिकप्रिया' में रसों का वर्णन किया गया है। 'विज्ञानगीता' में कवि ने अपने दार्शनिक विचार दर्शाये हैं। भावों की अभिव्यञ्जना स्वाभाविक रूप में न होने के कारण इनकी शैली दुरुह और जटिल हो गई है किन्तु ओज तथा शक्ति इनकी रचना में वर्तमान है। कहीं-कहीं रस-परिपाक भी विस्मय-

जनक हो उठा है। भाषा पर इनका अधिकार असाधारण है तथा शब्द-चातुरी, वाग्वैचित्र्य तथा श्लेषात्मक प्रयोगों की सफलता इनकी विशेषताएँ हैं, यद्यपि इनकी भाषा व्रजभाषा ही है और उस पर संस्कृत तथा बुन्देलखंडी का विशेष प्रभाव है। बुन्देलखंडी मुहावरे भी इन्होंने ज्यों-के-त्यों अपनाये हैं। इसमें विदेशी शब्दों का अभाव है। शब्दों का प्रचुर मरोड़ इत्यादि हम इनमें नहीं पाते हैं। केशव के समय में भक्ति का देश में प्रचार था, अतः इन्होंने राम तथा कृष्ण का आश्रय लिया, पर वे दोनों के लोकरंजक तथा प्रतिष्ठित रूप को भूल गए और शृङ्गार के भावावेश में श्रीकृष्ण को तो इन्होंने केवल रसिया ही बना दिया।

इनके पहले हिन्दी में साहित्य के काव्याङ्गों पर लक्षण-ग्रन्थ किसी ने नहीं लिखा था। साथ ही कविता के भावपक्ष तथा कलापक्ष दोनों की दृष्टि से सूर तथा गोसाईंजी द्वारा हिन्दी कविता अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। प्रकृति का कुछ ऐसा नियम ही है और यह वस्तु व्यावहारिक भी है कि लक्ष्य-ग्रन्थों के पश्चात् ही लक्षण-ग्रन्थ बनते हैं। संस्कृत-साहित्य इसका यथेष्ट प्रमाण है। अतः केशव को संस्कृत के भामह, रुद्रट तथा दंडी के मार्गों का अनुसरण करने की धुन समाई, जिन्होंने रस, रीति और ध्वनि सबको ही अलंकारों से गौण माना तथा इसी के अन्दर अपर्युक्त सभी का समावेश समझा। साहित्य-दर्पण के रचयिता विश्वनाथ की तरह इन्होंने साहित्य में रस को प्रधानता नहीं दी। अलंकारों के लक्षण भी उन्हींके दिये हुए उदाहरणों से अस्पष्ट-से हैं। और इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूक्ष्म-दृष्टि से उन्होंने अलंकारों का अध्ययन नहीं किया था। 'कविप्रिया' में कवि-शिक्षा सम्बन्धी वस्तु तथा रसिकप्रिया में शृङ्गार-रस को केवल रसराज ठहराया गया है। और रसों का पूर्ण विवेचन हम इसमें नहीं पाते। यद्यपि इन सबकी सामग्री संस्कृत ग्रन्थों से ली गई है और केशव ने उसमें कुछ थोड़ा परिवर्तन करके अपनी ओर से जोड़ दिया है और हम इन्हें शास्त्रीय दृष्टि से आचार्य नहीं कह सके, पर इतना तो अवश्य है कि यह पहले

कवि थे, जिन्होंने हिन्दी में काव्य के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया अतः हम इन्हें काव्य-शास्त्र और पिंगल का आचार्य कह सकते हैं ।

पर केशव को कवि-हृदय की अनुभूति नहीं थी । सहृदयता और सहानुभूति का पूरा योग उन्हें नहीं मिला था । संस्कृत-साहित्य से सामग्री लेकर उन्होंने हिन्दी-साहित्य में आतंक जमाना चाहा । इसके प्रमाणस्वरूप 'प्रसन्न राघव', 'नैषध', 'कादम्बरी' इत्यादि की उक्तियाँ हैं जिनका ज्यों-का-त्यों अनुवाद दे दिया गया है, पर उनमें भी वे मूल का-सा काव्य-रस नहीं पैदा कर सके हैं । यद्यपि उनके पास एक उच्चकोटि की कवि कल्पना विद्यमान थी, पर अपने समय के वातावरण तथा आश्रय-दाताओं की रुचि और आचार्यत्व के कारण अपना ध्यान क्लिष्ट कल्पना तथा अलंकार वैचित्र्य की ओर होने से ये स्वतन्त्र नहीं थे । श्रीराम के जिस कथानक के आधार पर गोस्वामोजी रामचरितमानस जैसे काव्य की रचना कर सके, उसी कथा की यद्यपि केशव ने अपनाया, पर उसमें ये कोई भी मार्मिक और महत्त्वपूर्ण स्थल नहीं पैदा कर सके । रामचन्द्रिका में राम का अयोध्या-त्याग, दशरथ की मृत्यु, इत्यादि केशव को नहीं रुला सके हैं । बन को जाते हुए राम के विषय में आप कहते हैं—

किधौं मुनि शाप हत, किधौं ब्रह्म दोष रत,

किधौं कोऊ टग हौं ।

प्रकृति-वर्णन में भी केशव सफल नहीं हो सके, तथा उससे उनका हृदय द्रवीभूत नहीं हुआ है । इनके लिए फूल निरुद्देश्य फूलते हैं तथा वायु निरर्थक चलती है । अतः प्रकृति-जीवन का स्पन्दन हम इनमें नहीं पाते हैं और वहाँ भी शब्दों की ही कराभात-मात्र विराजमान है । इस तरह प्रकृति के विभिन्न रूपों और अनुभूतियों के लिए उनके हृदय में कोई स्थान नहीं बन पाया है, और कल्पनाएँ हृदयजात न होकर मस्तिष्क की उपज-मात्र ही हैं । अतः इनके अन्दर देश की स्थानगत विशेषता का अभाव-सा ही है ।

प्रबन्ध-काव्य-रचना की क्षमता केशव में विद्यमान नहीं थी; काव्य-रूढ़ियों का निर्वाह-मात्र ही वे जानते थे। राम जैसे नायक को अपना-कर भी प्रबन्ध-काव्य की अनेकरूपता प्रकट न कर पाये। छन्दों को रद्दोबद्द तथा कथा-प्रवाह के अशक्त होने से पाठकों की जानकारी के लिए दृश्य-काव्य की भाँति पात्रों के नाम अलग से देने पड़े हैं; साथ ही केवल चले आते हुए सेना संचालन, युद्ध, उपवन, राजसभा की तड़क-भड़क, रति, प्रेम इत्यादि के वर्णन अलंकारों की योजना के साथ पाये जाते हैं। और उनकी ये व्यंजनाएँ रोचक तथा स्वाभाविक नहीं हों पाई हैं। वर्णन दिखावटी तौर पर बलपूर्वक भरे गए हैं और कथा के औचित्य का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता। बीच में कहीं-कहीं शुष्क उपदेशों का भी समावेश है। कहीं पर इतिहास तथा परम्परा के विरुद्ध उपमानों के भी दर्शन होते हैं और तुलसी की भाँति काव्य-विवेक हम इनमें नहीं पाते। इनके अन्दर कौशल का ही विशेष पुट है। 'कला स्वाभाविक है और मनुष्य के मार्मिक अन्तस्तल से निकलती है और जहाँ बुद्धि को ठोक-पीटकर काम लिया जाता है वहीं कौशल की उत्पत्ति होती है।'

लेकिन यह सब होते हुए भी केशव का स्थान काव्य-साहित्य में ऊँचा है और इनके पात्रों के संवाद बहुत ही उत्तम कोटि के हैं तथा पात्रों के अनुकूल क्रोध, उत्साह, आदि का चित्रण भी बड़ा ही प्रभाव-पूर्ण तथा हृदयग्राही है। इनमें हम वाक्पटुता और राजनैतिक दाय-पेच का आभास पाते हैं। तुलसी के बाद संवादों की योजना इन्हीं की पुष्ट है—

मातृकहाँ नृप तात ? गये सुरलोकहिं, क्यों ? सुत शोक लये ।

कौन के सुत ? बालि के, वह कौन बालि न जानिये ॥

जहाँ पर मानव अन्तःकरण को छूने वाली कोई वस्तु आई है उसका परिचय तो स्पष्ट नहीं है, पर संकेत बड़ा ही उत्तम है और वहाँ इन्होंने अलंकार-योजना त्याग-सी दी है। वर्णनों में प्रताप, वीरता,

ऐश्वर्य, युद्ध कौशल, भयानक तथा रौद्र रसों के वर्णन चरम सीमा तक पहुँच गए हैं। 'रसिकप्रिया' के पदविन्यास उत्तम कोटि के हैं। लालित्य के अभाव में भी इनके काव्य में अर्थ-गौरव है। संस्कृत के प्रायः सभी छन्दों का प्रयोग करके भाषा के पिंगल का इन्होंने विस्तार किया। रीति-काव्य के जन्मदाता के रूप में ये सदैव अमर रहेंगे। ये वृद्धावस्था तक रसिक थे और केवल बाबा कहने से ही चिढ़ गए थे। अतः ये हृदयहीन न होकर सहृदय ही थे।

अतः 'केशवदास उन कवि-पुंगवों में नहीं गिने जा सकते जो एक विशिष्ट परिस्थिति के निर्माता हों; वे तो अपने समय की परिस्थिति द्वारा निर्मित हुए हैं और उसके प्रत्यक्ष प्रतिबिम्ब हैं।'

आचार्य केशव के पश्चात् हिन्दी कविता ने एक नये मार्ग को अपनाया तथा उसका अनुसरण करके एक नवीन दिशा की ओर मुड़ी जो रीति-काल कहा जाता है। कविता का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य भुला दिया गया। इसमें बाह्य-सौन्दर्य की वृद्धि हुई, तथा कविता की आत्मा संकुचित-सी हो गई। दरबार के प्रभाव से कवि आत्मा को सुधारने की अपेक्षा हास-विलास तथा शृंगार की ओर झुके, क्योंकि समाज भी उधर ही जा रहा था। साहित्य इन्हीं परिस्थितियों से प्रभावित होकर ही उपस्थित होता है। अतः हिन्दी-साहित्य के रंगमंच पर 'रीति-काल' ने प्रवेश किया जिसने देव, बिहारी, भूषण इत्यादि की रचनाओं से हिन्दी-साहित्य को समलंकृत किया।

रीति-काल

हिन्दी के भक्त कवियों ने साहित्य में अन्तरात्मा के पुकार का आविर्भाव करके, भारतीय संस्कृति को व्यापक, उदार तथा मधुररूपेण अंकित करके, तथा समाज को आपत्काल में गर्त में गिरने से बचाकर अपनी दिव्य भावनाओं के सञ्चयन साहित्य को उसकी अन्तिम पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। ये भगवान् के ही रसिक थे, तथा हमेशा ईश्वरीय चिन्तन में ही मस्त रहते थे। अतः इन्होंने स्वर्गीय साहित्य की सृष्टि की थी और इस कार्य के लिए प्रकृति द्वारा ये विवश किये गए थे। इस भाँति इन कवियों ने काव्य-कानन को स्वकीय कविता-कुसुमों से अत्यन्त कुसुमित बना दिया था। इस तरह हिन्दी में लक्ष्य-ग्रन्थ प्रचुर मात्रा में निर्मित हो चुके थे। पर लक्षण-ग्रन्थों की अभी कमी ही थी। लक्ष्य-ग्रन्थों के निर्मित हो जाने के पश्चात् ही लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण का समय आता है। पहले वस्तु उपस्थित होती है और तभी उसके गुण, दोष तथा विशेषताओं का सम्यक् विवेचन किया जाता है। संस्कृत-साहित्य में भी यही क्रम रहा है। यही दशा हिन्दी-साहित्य की भी हुई।

हिन्दी के रीति-काल के कवियों ने भी संस्कृत का ही अनुसरण किया। संस्कृत में काव्य सम्बन्धी कई सम्प्रदाय हुए जिनमें भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित रस-सम्प्रदाय, भामह, दंडी और रुद्रट का अलंकार सम्प्रदाय, वामन द्वारा प्रतिपादित वैदर्भी, गौड़ी तथा पाञ्चाली रीतियों का रीति सम्प्रदाय, कुन्तल का वक्रोक्ति सम्प्रदाय, तथा आनन्दवर्धन के ध्वनि-सम्प्रदाय मुख्य हैं। हिन्दी के रीति-ग्रन्थों के निर्माण के समय ये सभी सम्प्रदाय विद्यमान थे, जैसा कि केशव के सम्बन्ध में पीछे

दिखाया गया है, कि इन्होंने अलंकार सम्प्रदाय का अनुसरण करके ही हिन्दी में काव्यांगों के सब अंगों का निरूपण किया। पर हिन्दी में रीति की अटूट धारा केशव के पश्चात् ही चली, जिसमें रस तथा ध्वनि सम्प्रदायों का अनुसरण किया गया, तथा काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में रस की प्रधानता मानने वाले मम्मट तथा 'साहित्यदर्पणकार' विश्वनाथ के मत को ग्रहण किया गया। अलंकारों के निरूपण में 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' का आश्रय लिया गया। अतः हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थों की प्रचुरता हुई, तथा दोहे में रस अथवा अलंकार का लक्षण लिखकर कवित्त या सवैया में ही उदाहरण लिखने की परिपाटी चल पड़ी।

पर आचार्यत्व तथा कवि-कर्म दोनों में हमेशा से ही अन्तर रहा है। अतः संस्कृत में दोनों व्यक्ति पूर्णतया ही भिन्न रहे। आचार्यों ने साहित्य-शास्त्र की व्यवस्था की, और कवियों ने बराबर उसकी विवेचना की। पर हिन्दी में कवि तथा आचार्य में एक अनूठा सामञ्जस्य स्थापित हुआ और एक ही व्यक्ति ने दोनों कर्मों को निभाया। अतः फल वही हुआ कि 'दुविधा में दोनों गये औ माया मिली न राम' और न कोई पूरा कवि ही हुआ, न कोई पूर्ण आचार्य ही; न तो काव्य के अंगों का ही विस्तृत विवेचन हो पाया, और न कवि-लेखनी स्वतन्त्र ही रह सकी। अतः कविता भी विकास-पथ की ओर अग्रसर नहीं हो पाई, और इसका क्षेत्र सीमित तथा संकुचित ही रहा। साथ ही तर्क पर आधारित संस्कृत के अनेक सम्प्रदायों का निरूपण हिन्दी में नहीं हो पाया, क्योंकि गद्य में ग्रन्थ-रचना की परिपाटी ही नहीं थी, और पद्य में काव्य के विभिन्न अङ्गों पर सम्यक् विचार प्रायः असम्भव हो गया था। रसों में केवल शृङ्गार तथा वीर ही प्रमुख हो पाये।

साहित्य में मानव-जीवन के विभिन्न रहस्यों का चित्रण होता है। इसमें मनुष्य के आदर्शवाद तथा यथार्थवाद दोनों की स्पष्ट झलक होती है। समाज इस समय विलासिता की ओर जा रहा था, और राजाओं

के समान प्रजा भी पूरी तरह प्रेम के पंक में फँस रही थी। कुछ महाराणा प्रताप जैसे देश-प्रदीप इत्यादि को छोड़कर सभी शासकवृन्द विलासिता तथा शृङ्गार की शृङ्खलाओं में बुरी तरह जकड़े हुए थे। अतः कवि भी इस धारा में बहे तथा स्त्री-पुरुष के मधुर सम्बन्ध की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ। अतः इस समय का समाज प्रभु-प्रेम के पवित्र अंक से निकलकर सुखोपभोग तथा प्रेम के प्राङ्गण में कलित-केलियाँ करने लग पड़ा। उधर कृष्ण-भक्त कवियों द्वारा प्रतिपादित राधा-कृष्ण का अलौकिक प्रेम प्रणय-लीलाओं के रूप में परिणत होने लगा, और कृष्ण-भक्ति का पावन प्रवाह पङ्क द्वारा आच्छादित होने लगा। शृङ्गार-रस की विशेषता के कारण आलम्बन होने से नायिका, उसके अंग-प्रत्यङ्ग, हाव-भाव, नख-शिख तथा संयोग-वियोग इत्यादि पर रचनाएँ हुईं।

यद्यपि काव्य में ब्रजभाषा ही साहित्यिक भाषा के रूप में व्यवहृत हुई, पर रीति-ग्रन्थ अधिकतर अवध क्षेत्र में ही लिखे गए थे। अतः कवि की इच्छानुसार दोनों का सम्मिश्रण हुआ। भाषा, जोकि अनेक कवियों की लेखनी से एक निश्चित मार्ग के पास आ गई थी, उसे व्याकरण से लोग पूर्ण निर्धारित नहीं कर पाये। यद्यपि विदेशी शब्द व्यवहार में आ रहे थे पर इन कवियों ने इनका प्रचुर प्रयोग नहीं किया। भाषा में कोमलता तथा सुकुमारता का समावेश हुआ। छन्द भी प्रौढ़ और परि-कृष्ट हुए, और छन्दों की भी एक रीति ही बन गई, जिसमें कवित्त, दोहे तथा सवैया ने उच्चासन प्राप्त किये। काव्य में शैली भाव-पक्ष प्रधान न होकर कला-पक्ष प्रधान ही रही।

औरंगजेब जैसे धूमकेतु के उदय ने शान्त भारत में उपद्रव तथा उत्पात उत्पन्न किये। अतः जनता में वीरात्मक प्रवृत्तियाँ जाग उठीं। दक्षिण में शिवाजी तथा पंजाब में गुरु गोविन्दसिंह जी स्वधर्म तथा स्वराज्य की रक्षा में अग्रसर हुए और पुनरुद्धार तथा पुनर्जागरण का उत्साह सारे देश में व्याप्त हो उठा। तत्कालीन हिन्दी कवि भी अपने

कर्तव्य से पीछे न रहे और इन वीरों को अपनी वीरवाणी का योग दिया । जनता भूषण, लाल, सूदन इत्यादि की कविताओं को गाकर अतीत के गौरव का सुख लेने लगी । पर ये राष्ट्रीय कवि भी परिस्थिति-वश लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण की ओर झुके । अतः ये अपनी पूर्ण प्रतिभा का उपयोग नहीं कर पाये । दूसरे प्रबन्ध की ओर न जाकर मुक्तक को ही इन कवियों ने अपनाया । अतः जीवन की अनेकरूपता उसमें न आने पाई । फिर भी वीर-रस प्रधान होने पर भी इन कवियों का स्थान रीति-काल में ही है, क्योंकि इन्होंने रीति परम्परा को ही अपनाया । इस काल के मुख्य कवियों का विवरण नीचे दिया जाता है ।

चिन्तामणि त्रिपाठी—ये तिकवाँपुर (जिला-कानपुर) के निवासी थे । इनका जन्म संवत् १६६६ के लगभग, कविता काल १७०० के पास और मृत्यु अनिश्चित-सी है । भूषण तथा मतिराम इनके भाई बताए जाते हैं । 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार ये नागपुर के राजा, मकरंदशाह के दरबार में रहा करते थे । उन्हीं के नाम पर 'छन्द विचार' नामक पुस्तक लिखी । इनकी अन्य पुस्तकें 'काव्य-विवेक', 'कवि कुल कल्पतरु', 'काव्य प्रकाश', तथा 'रामायण' हैं । बाबू रुद्रसिंह सोलंकी, जैनदी अहमद तथा मुगल सम्राट् शाहजहाँ ने इन्हें पर्याप्त पुरस्कार प्रदान किये थे ।

इन्होंने रसपूर्ण रचना को प्रधानता देकर अलंकारों को यथोचित स्थान प्रदान किया और केशव के विपरीत दूसरे सम्प्रदाय के प्रथम कवि हुए । इनकी भाषा सुन्दर तथा अनुप्रासयुक्त है, तथा यह विशुद्ध ब्रजभाषा है । शैली भी मनोहर तथा चित्ताकर्षक ही है । ये भाषा तथा भाव दोनों दृष्टियों से प्रशंसा योग्य है—

इक आज़ु मैं कुन्दन वेलि लखी मनि मन्दिर की रुचिवृन्द भरैं ।

कुरविन्द के पल्लव इन्दु तहाँ अरविन्दन तैं मकरन्द भरैं ।

बिहारीलाल—इनका जन्म बसुआ गोविन्दपुर नामक गाँव में, जो ग्वालियर के निकट है, सं० १६६० के आस-पास हुआ । ये माथुर चौबे

कहे जाते हैं। एक दोहे के अनुसार इनका लड़कपन बुन्देलखण्ड में बीता, लेकिन इनकी जवानी ससुराल मथुरा में कटी। जयपुर के मिर्जाराजा जयसिंह इनके आश्रयदाता थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि राजा जयसिंह ने अपनी नवोढ़ा पत्नी की आसक्ति में प्रायः सारा राजकाज छोड़ दिया था। सरदारों की सलाह से अन्तःपुर में बिहारी द्वारा लिखित यह दोहा भिजवाया गया, जिससे प्रभावित होकर राजा जयसिंह फिर नियमतः राजकाज देखने लगे—

नहि पराग नहिं मधुर मधु नहि विकास यहि काल ।

अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ॥

इसके पश्चात् ये महाराज के अन्तरंग मित्र बन गए और उन्होंने ऐसे ही सरस दोहों की रचना करने के लिए इनसे कहा। बिहारी दोहे बनाकर सुनाने लगे और प्रत्येक दोहे पर एक-एक अशर्फी लेते गए। यही सात सौ दोहे संग्रहीत होकर 'बिहारी सतसई' के नाम से प्रसिद्ध हुए। ये सम्भवतः संवत् १७२० तक जीवित रहे।

इनका एकमात्र ग्रन्थ यही 'सतसई' है जिसमें ७११ दोहे हैं। इसी के कारण बिहारी ने हिन्दी-साहित्य में वह स्थान प्राप्त किया है जो तुलसीदास जी और सूरदास जी को छोड़कर ख्याति की दृष्टि से और सब कवियों से ऊँचा है। जनता का साहित्यिक कौतूहल इसके द्वारा इतना उत्तेजित हुआ है कि इसकी पचासों टीकाएँ लिखी गई हैं, तथा 'बिहारी साहित्य' ही खड़ा हो गया है। इन टीकाओं में कृष्ण कवि की टीका तथा सूरति मिश्र की टीका अत्यन्त प्रसिद्ध है। पं० परमानन्दजी ने इन दोहों का संस्कृत में अनुवाद करके 'शृङ्गार-सप्तशती' की संज्ञा प्रदान की है।

बिहारी की भाषा ब्रजभाषा है, परन्तु इनमें बुन्देलखंडी, तथा अरबी-फारसी के शब्द भी पाये जाते हैं। यह चलती होने पर भी साहित्यिक है और अत्यन्त उत्कृष्ट है। वाक्य-रचना सुव्यवस्थित है तथा शब्द अन्य कवियों की भाँति तोड़े-मरोड़े नहीं गए हैं। मुहावरे के प्रयोग,

समास-निर्णय-शक्ति, माधुर्य चित्रमयता के कारण भाषा प्रवाहमयी एवं शुद्ध परिमार्जित है। इनकी शैली में व्यंग और सहृदयता के साथ ही वचन-चातुरी, और रस के संचारी भावों का स्वाभाविक और रोचक मेल है। साथ ही व्यंजनाशैली पर फारसी-साहित्य का प्रभाव लक्षित होता है। इनके अलंकारों के प्रयोग प्रशंसनीय हैं तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, तद्गुण, अन्योक्ति इत्यादि के उदाहरण बहुत ही सुन्दर हैं।

इनकी इस रचना पर 'आर्या-सप्तशती' और 'गाथासप्तशती' नामक संस्कृत तथा प्राकृत के ग्रन्थों का प्रभाव पड़ा है। यही रचना इनकी कीर्ति की उज्ज्वल पताका है। कवि का यश अधिक लिखने के कारण नहीं प्रत्युत उसकी कविता के गुण के कारण होता है। 'बिहारी-सतसई' इसका प्रमाण है। यह एक मुक्तक रचना है और बिहारी इसमें पूर्ण-रूपेण सफल हुए हैं। मुक्तक में प्रबन्ध-काल की विशालता और कथा की धारा में पाठक को बहाने की शक्ति नहीं होती, किन्तु बिहारी जैसे सहृदय कवि के द्वारा वह सावन की फुहार की तरह मन को मोहित कर सकता है। शृङ्गार के दोनों रूपों संयोग और वियोग को लेकर इन्होंने अपने दोहे लिखे हैं। वे हृदय पर तत्काल ही बड़ा गहरा असर करते हैं। उनमें ध्वनि या व्यंग बहुत हैं, जिसके द्वारा पाठक का कल्पना कौतूहल एक साथ जागरित होकर तृप्ति द्वारा आनन्द में अपना अवसान करता है। इनमें मानव-जीवन के साधारण और स्वाभाविक प्रणय-व्यापारों का सूक्ष्मतम तथा मनोवैज्ञानिक निरीक्षण, कला कुशलता एवं वाग्वैदग्ध्य ये तीनों विशेष गुण लक्षित होते हैं जिसने इनको प्रतिनिधि कवि के आसन पर प्रतिष्ठित किया है। अति-शयोक्ति तथा उत्प्रेक्षा के प्रयोग विरह-वर्णन में बहुत हुए हैं। पर कहीं-कहीं उन्होंने सीमा का उल्लंघन-सा करके खिलवाड़ ही उपस्थित कर दिया है—

पत्राहि तिथि पाइये, वा घर के चहुँपास ।

नित प्रति पून्योंई रहैं, आनन ओप उजास ॥

इन्होंने प्रेम का कितना उच्च आदर्श उपस्थित किया है—

गिरि से ऊँचे रसिक मन बूड़े जहाँ हजार ।

वहै सदा पशु नरन को प्रेम पयोधि पगार ॥

आंगिक सौन्दर्य के वर्णन में कवि सर्वश्रेष्ठ है । रहस्यात्मक कल्पना रूप की अलौकिकता, आकर्षण, नूतनता एवं अतृप्ति है और वह अनुपमेय सौन्दर्य नील नभ के सदृश उन्मुक्त विशाल और अनिर्वचनीय है । दशा-वर्णन भी अत्यन्त ही उत्कृष्ट है । पर बिहारी की रचना हृदय के कोनों पर कोई अमिट अभाव नहीं करती जो स्थायी होकर हमेशा के लिए पाठक को अपने में निमज्जित करे । केवल वह सौन्दर्य हम उनकी कविता में उपस्थित पाते हैं जो क्षण-मात्र के लिए ही रहता है । यदि कला-पक्ष के साथ ही उनका भाव-पक्ष भी उसी भाँति प्रधान होता तो वह एक अद्भुत कवि होते ।

फिर भी उन्होंने दोहे जैसे छोटे छन्द को अपनाकर उसी के अन्दर अपने भाव तथा विचार भर दिये हैं । बिहारी-सतसई में हमें षट् ऋतु वर्णन तथा सुन्दर अन्योक्तियों के दर्शन होते हैं और डॉ० जार्ज ग्रियर्सन ने बिहारी को 'भारत के टामसन' (Thompson of India) कहा है । नीति के दोहों की भी भरमार ही है । ये रीतिकालीन धारा के प्रमुख कवि हैं । जयदेव का अनुसरण करके इन्होंने राधिका के भक्त होकर उन्हीं की प्रार्थना की है । यह तो सच्चे रूप के पुजारी थे । मथुरा के वातावरण से प्रभावित न होकर बिहारी की कल्पना ने शृङ्गार-रस की जिस सुषमामयी वनस्थली में विचरण किया उसमें वह अद्वितीय रही । इन्होंने रहस्यात्मक कल्पना तथा नख-शिख वर्णन दोनों प्रकार की सौन्दर्य धारणाओं का अनुपम उल्लेख किया है । इनके छोटे-छोटे दोहे रस के छींटे ही नहीं प्रत्युत गागर में भरे हुए रस के सागर हैं, जो कमनीय कामिनियों के कलित हाव-भावों और अनुभावों की लहरियों से निरन्तर तरंगायित होते रहते हैं । अतः इनके विषय में यह प्रसिद्ध है—

सतसइया के दोहरे ज्यों नावक के तीर ।

देखन में छोटे लगे, घाव करे गम्भीर ॥

मतिराम—रीतिकालीन धारा में मतिराम का एक विशिष्ट स्थान है । यह चिन्तामणि तथा भूषण के भाई कहे जाते हैं । इनका जन्म सं० १६७४ में तिकवाँपुर में हुआ था । इनकी मृत्यु संवत् १७७३ मानी जाती है । बूँदी-नरेश महाराजा भावसिंह इनके आश्रयदाता रहे । यह 'छन्दसार', 'रसराज', 'ललितललाम', 'साहित्यसार' 'लक्षण-शृङ्गार' तथा 'मतिराम सतसई' के रचयिता कहे जाते हैं ।

इनकी रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अत्यन्त सरस तथा स्वाभाविकता का पुट लिये हुए है । शब्द भाव-व्यंजना को ही स्फुट करते हुए पाये जाते हैं । शब्द-जाल तथा आढम्बर से हीन भाषा भी स्वाभाविक ही है । पर अनुप्रासों की इसमें विशेषता है । बिहारी के समान इनके अन्दर कृत्रिम भावों का समावेश नहीं है । भावों को आकाश पर चढ़ाने और दूर की कल्पना के फेर में यह नहीं पड़े । इनका सच्चा कवि-हृदय था । यदि यह रीतिकालीन परम्परा का अनुगमन न करके स्वतन्त्र रूप से अपने भावों को व्यक्त करते तो और सफल होते । इनकी चलती तथा प्रसाद-गुण-सम्पन्न कोमल ब्रजभाषा में हम सरल व्यंजना पाते हैं । यह अनुभूति के मर्मस्पर्शी चित्र खींचने में अत्यन्त सफल हुए हैं ।

जहाँ तक कवि के काव्य से सम्बन्ध है, मतिराम एक उच्च कोटि के कवियों में अपना स्थान रखते हैं । इनकी रचना स्वाभाविक, सरल तथा स्पष्ट है ।

देव—यह इटावा के रहने वाले थे तथा इनका पूरा नाम देवदत्त था । इन्होंने सबसे पहले सोलहवें वर्ष में 'भाव-विलास' की रचना करके औरंगज़ेब के बड़े पुत्र काव्य-रसिक आजमशाह को सुनाया । फिर यह भवानीदत्त वैश्य, कुशलसिंह, राजा उदोतसिंह आदि के आश्रय में रहे । इन्होंने भारत के कई प्रान्तों का भ्रमण भी किया ।

रीतिकालीन कवियों में देव ने सबसे अधिक ग्रन्थ लिखे। इनके ग्रन्थों की संख्या लगभग ७२ बताई जाती है, पर उसमें २५ ही उपलब्ध हैं। इनमें 'भाव-विलास', 'अष्टयाम', 'भवानी विलास', 'सुज्ञान विनोद', 'प्रेम-चन्द्रिका' एवं 'रस विलास' आदि मुख्य हैं। इनका जन्म सं० १७३० में और मृत्यु संवत् १८२० के आसपास हुई।

इन्होंने रचना के लिए सवैया तथा घनाक्षरी छन्द को ही अपनाया, पर घनाक्षरी को प्रधानता प्रदान की। इनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है तथा इसमें कोमलता, सरलता एवं प्रवाह है। शब्द-भण्डार भी विकसित ही है, पर शब्दों का तोड़-मरोड़ इन्होंने भी किया है। कविता में प्रचलित लोकोक्तियों का उचित समावेश है—

कालिह के जोगी कलिदे को खप्पर

सूक्त सौंभ मियान कछू, सुदिया न वरै कहुँ कारे के आगे।

एक ही छन्द में कई अलंकार, गुण, लक्षण, व्यंजना, ध्वनि, इत्यादि के सम्यक् दर्शन होते हैं।

इनका कव्य-क्षेत्र संकुचित न होकर व्यापक हुआ, अतः इनकी चित्तवृत्ति मर्मस्पर्शी हुई। यद्यपि इन्होंने लौकिक प्रेम को ही अपनाया पर अपने को उसी में इतना डुबा दिया कि हमें उसकी वास्तविक आत्मा के दर्शन होते हैं। इनकी रचनाओं में एक क्रमिक विकास परिलक्षित होता है जो स्वाभाविक तथा अनूठा है। यौवन के उन्माद, शृंगार इत्यादि के अतिरिक्त संयम भी इनकी रचनाओं में विद्यमान है तथा प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता आदि गुण भी सर्वत्र पाये जाते हैं। हृदय पर चोट तथा मार्मिक अन्तस्तल को बेधने वाले भाव की प्रचुरता भी इनमें है—

साँवरे लाल को साँवरे रूप में नैननि को कजरा करि राख्यो।

देव कछू अपनो बस ना रस लालच लाल चितै भई चेरी।

यद्यपि इन्होंने अपने को कवि तथा आचार्य दोनों रूपों में प्रगट किया है, पर इनका मुकाब रीति-सम्बन्धी कला की ओर न होकर उच्च कविता

की ओर ही रहा, और बन्धन विमुक्त होकर अपने काव्य में यह अपने को व्यक्त कर सके। यद्यपि इनके अन्दर उस पांडित्य का हम दर्शन नहीं पाते जो आचार्य केशव में विद्यमान था, पर कमनीय कल्पनाओं की अनुपम शक्ति के विकास के कारण और अनुभवी सूक्ष्मदर्शी एवं सहृदय होने से ये इस काल के प्रमुख कवि ठहरते हैं। इनकी रचनाओं में शब्द-लालित्य, अनुप्रास एवं अलंकार अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गए हैं और कवित्व-शक्ति तथा मौलिकता इन्हें एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

राजा जसवन्तसिंह—यह जोधपुर के अत्यन्त पराक्रमी, देशभक्त विद्वान् और साहित्य-रसिक शासक थे। इनका जन्म संवत् १६८३ में और मृत्यु सं० १७३५ में काबुल में अफगानों से लड़ते हुए हुई। औरंगजेब के यहाँ इनका बड़ा सम्मान था और यह शिवाजी के विरुद्ध भेजे भी गए थे। इन्होंने 'भाषा-भूषण', 'अपरोक्ष सिद्धान्त', 'अनुभव प्रकाश', 'आनन्द-विलास' आदि की रचना की थी।

'भाषा-भूषण' इनका संस्कृत के 'चन्द्रालोक' की भाँति है, जिसमें एक ही दोहे में लक्षण तथा उदाहरण दोनों वर्तमान हैं। इनकी ख्याति हिन्दी के प्रधान आचार्यों में है और उपयुक्त ग्रन्थ को बहुत ही सम्मान प्राप्त है। इन्होंने कविता करने की दृष्टि से नहीं, प्रयुक्त विषय के सम्यक् प्रतिपादन के लिए ही इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसकी बाद में तीन टीकाएँ भी हुईं।

महाकवि भूषण—वीर-रस के यशस्वी कवि भूषण का जन्म कानपुर के तिकवाँपुर गाँव में संवत् १६७० में हुआ था। यह लोक-प्रसिद्ध बात है कि मतिराम तथा चिन्तामणि इनके भाई थे, और ये शिवाजी के समकालीन थे। लोग इस बात से सहमत नहीं हैं, पर जब तक हम अकाव्य प्रमाणों से इन्हें पूर्णतया संदिग्ध न सिद्ध कर दें इन्हें बिलकुल झूठी नहीं मान सकते। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था तथा ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। 'भूषण' इनका असली नाम नहीं है,

प्रत्युत प्रसिद्ध सोलंकी राजा रुद्रदेव द्वारा प्रदत्त उपाधि-मात्र है। पर इस उपाधि ने अपने सामने इनके असली नाम को ही लुप्त कर दिया और विद्वानों के लिए वह विवाद का विषय हो गया है। कुछ लोग इनका असली नाम 'कन्नौज', पर अधिकांश लोग 'मनिराम' ही मानते हैं।

यद्यपि भूषण की वीर-रचनाओं से स्पष्ट यही प्रकट होता है कि युद्ध के समय भी ये प्रायः शिवाजी के साथ थे, पर कुछ लोग इन्हें शिवाजी का समकालीन न मानकर उनके लड़के शाहजी के समय का बतलाते हैं। छत्रसाल के भी यहाँ ये रहे। ऐसा कहा जाता है कि इनके एक-एक छन्द पर शिवाजी ने कई गाँव, लाखों रुपये तथा कई हाथी अर्पित कर दिये। इनका परलोकवास संवत् १७७२ में माना जाता है।

इनके ग्रन्थों में 'शिवराज भूषण,' 'शिवाबावनी' तथा 'छत्रसाल-दशक' ही प्राप्य हैं। 'भूषण-उल्लास,' 'दूषण-उल्लास' और 'भूषण-हजारा' ये भी इन्हीं की रचनाएँ कही जाती हैं। यद्यपि इनकी भाषा ब्रज-भाषा है, तथापि उसमें राजस्थानी, अरबी, फारसी, संस्कृत इत्यादि के तत्सम शब्दों का बाहुल्य है; साथ ही बुन्देलखण्डी का भी यथेष्ट पुट है। अतः हम इसे एक मिश्रित भाषा कह सकते हैं। इसमें लोकोक्ति तथा मुहावरे भी पाये जाते हैं। शब्दों को तोड़-मरोड़ भी इन्होंने बहुत किया है।

रीतिकाल के कवियों ने औरंगजेबी तलवार के घाट उतरने वाली निरीह जनता का हाहाकार, अनाथ बच्चों के करुण-क्रन्दन इत्यादि पर विशेष ध्यान नहीं दिया। पर 'भूषण' इस ओर से अपने को नहीं रोक सके। वे वीरता के पुजारी थे और आश्रयदाताओं के विलास रूप की तिलांजलि देकर समाज को उन्नत तथा उचित मार्ग पर ले जाने के लिए उन्होंने इतिहास-प्रसिद्ध वीरों को अपना नायक बनाया, जो औरंगजेब के धार्मिक कट्टरपन के कारण आत्मरक्षा और प्रतिकार की भावना लिये

हुए समाज के सम्मुख उपस्थित हुए थे। ये वीर मराठा शक्ति के संघटन करने वाले छत्रपति शिवाजी और बुन्देलखण्ड के राजा छत्र-साल थे।

यह आत्म-सम्मान के प्रेमी थे और स्वराष्ट्र की भावना भी इनमें कूट-कूटकर भरी थी। अतः न तो इन्होंने अपने नायकों की झूठी प्रशंसा में ही पृष्ठ रंगे और न जनता की कुत्सित वृत्तियों को उत्तेजित करने वाली शृंगारिक कविता ही की, प्रत्युत अत्याचार का दमन करने वाले, देश तथा समाज की स्वतन्त्रता के सच्चे पुजारी, महापराक्रमी पुरुषों की सच्ची वीरता का चित्र उपस्थित करके कवि-कर्तव्य का पूर्णरूपेण पालन किया। अतः इनके हृदय के ये उद्गार वीर-रस से ओत-प्रोत तथा ओजस्वी हैं, जिसे पढ़कर कायरों की धमनियों में भी रक्त-संचार का वेग बढ़ जाता है। युद्ध और शौर्य के वर्णन के साथ-ही-साथ इन्होंने अपने नायक के प्रभाव-वर्णन को भी सामने रखा है। भयानक, बीभत्स और रौद्र रसों को वीर-रस के स्वाभाविक सहायक होने के कारण अपनाया है। यश तथा दान, जो राजा के विशिष्ट गुण हैं उनका भी उचित समावेश है। जातीय गौरव और राष्ट्रीय भावना भूषण की कविता का प्राण हैं, अतः यह अपने युग के महान नायक हैं। उनकी कविताओं में शंकर का ओजपूर्ण रूप है, और वे हिन्दू जीवन के गौरव-किरीट हैं।

पर भूषण भी समय के प्रवाह के अनुसार ऐतिहासिक परम्परा से अपने को अलग नहीं रख सके और इस भाँति उसी में बहकर इन्होंने अपना ग्रन्थ 'शिवराज-भूषण' अलंकार-ग्रन्थ के रूप में उपस्थित किया। पर इसके लक्षण स्पष्ट तथा ठीक नहीं हैं। इसी फेर में पड़ने से ही भूषण अपनी प्रतिभा का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाए। यदि यह ग्रन्थ लक्षण तथा उदाहरणों से युक्त आलंकारिक ग्रन्थ न होकर जीवन का सर्वाङ्गीण चित्र उपस्थित करने वाला वीर-रस-प्रधान प्रबन्ध-काव्य होता, तो जनता और ही खुले हृदय से इसका स्वागत करती। वीर-गाथा

काल के वीर-साहित्य से इस साहित्य में अन्तर है। इसमें प्रत्येक वस्तु को वैयक्तिक रूप न देकर राष्ट्रीय रूप ही प्रदान किया गया है। साथ ही इनकी रचनाओं में ऐतिहासिकता अपने शुद्ध रूप में विराजमान है। इन्होंने कुछ फुटकल छन्द शृङ्गार-रस पर भी लिखे हैं, पर उनमें भी रण ध्वनि की झलक आ ही गई है—

नैन युग नैननि से प्रथमै लड़ै हैं धाय, अधर कपोल तेऊ टेरे नाहीं टेरे हैं ।
छत्रसाल की कृपाण का कितना सजीव चित्रण है—

भुज भुजगेस की वैसंगिनी भुजंगिनी सी,
खेदि खेदि खाति दीह दारुन दलन के ।
पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने वीर,
तेरी वरछी ने बरछीने हैं खलन के ॥

अर्थालंकार तथा शब्दालंकार दोनों की सुन्दर झलक हम इनमें पाते हैं। पराजित जाति के भीतर विजय का शंखनाद करने वाले महाकवि भूषण का मूल्याङ्कन उनके काव्य-गुणों पर न होकर राष्ट्रीय निष्ठा पर होता है, अतः इसी निष्ठा के बल पर इनकी कविताएँ ओजस्विनी, आशा और वीर-दर्पपूर्ण हैं।

भूषण के पश्चात् रीतिकाल के अन्तर्गत ही वीर-रस-प्रधान ये कविताएँ होती रहीं और इनमें 'लाल' तथा 'सूदन' इत्यादि मुख्य कवि हुए जिन्होंने छत्रसाल तथा सूरजमल जाट की वीरता के चित्र उपस्थित किये। मुगल साम्राज्य के अन्तिम दिनों में वीर-रसप्रधान ये कविताएँ चरमोत्कर्ष पर पहुँच गईं।

मिखारीदास — ये प्रतापगढ़ के रहने वाले थे तथा वहाँ के सोम-वंशी राजा पृथ्वीपतिसिंह के आश्रय में रहते थे। इनके लिखे ग्रन्थ 'रस-सारांश', 'छन्दोर्णव पिंगल', 'काव्य-निर्णय' आदि हैं, जिनमें इन्होंने काव्याङ्गों का निरूपण किया है और छन्द, रस, अलंकार रीति आदि का विस्तृत विवेचन है। इन्होंने परकीया प्रेम का स्पष्ट अंकन किया है। शृङ्गार ही इनका मुख्य विषय रहा है। और कवियों की भाँति कवि

तथा आचार्य दोनों के झगड़े में पड़कर ये भी पूर्ण सफल नहीं हुए, और लक्षण तथा उदाहरण भ्रामक तथा अशुद्ध ही उपस्थित कर पाए। फिर भी ये रस-विवेचन, भाषा की स्वाभाविक सरसता तथा शब्दाडम्बर-हीनता, आदि दृष्टियों से देव से उत्कृष्ट प्रतीत होते हैं। इनमें नीति की सूक्तियों का भी उचित समावेश है।

इन्होंने कल्पना की ऊँची उड़ानें नहीं भरी हैं, प्रत्युत प्रत्येक वर्णन को बड़े ही सीधे तथा स्वाभाविक ढंग से व्यक्त किया है।

पद्माकर भट्ट—रीतिकाल के अन्तिम चरण के सहृदय कवियों में पद्माकर का उच्च स्थान है। यह बाँदा निवासी तैलंग ब्राह्मण मोहनलाल जी भट्ट के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १८१० में और मृत्यु सं० १८६० में कानपुर में हुई। इनकी रचना अत्यन्त ही रमणीय है। भारत के अनेक राजाओं के आश्रय में ये रहे, जिनमें रघुनाथ राव, जयपुर-नरेश प्रतापसिंह, सुगरा के अर्जुनसिंह, उदयपुर के राणा भीमसिंह, ग्वालियर नरेश दौलतराव सिन्धिया आदि मुख्य थे, जहाँ इन्हें सम्मान तथा धन इत्यादि प्राप्त हुए थे। इनके ग्रन्थों में 'हिम्मत बहादुर बिरुदावली', 'जगद्विनोद', 'पद्माभरण', 'प्रबन्ध-पचासा', 'गंगा लहरी', और 'राम-रसायन' अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। 'हिम्मतबहादुर बिरुदावली' वीर-रस-प्रधान ग्रन्थ है, तथा 'जगद्विनोद' और 'पद्माभरण' रीति तथा अलंकार-सम्प्रदाय को प्रतिपादित करने वाले शृङ्गारिक ग्रन्थ हैं। और 'राम-रसायन' तथा 'गंगा-लहरी' भक्तियुक्त रचनाएँ हैं।

भाषा की सब शक्तियों पर इनका सम्यक् अधिकार परिलक्षित होता है। यह मधुर पदावली से युक्त, अनुप्रासों से कानों को खड़ी करने वाली, वीर को उन्मत्त करने में समर्थ तथा अन्त में शान्ति प्रदायिनी है और परिस्थिति के अनुसार ही इसका प्रयोग हुआ है। अनुप्रासयुक्त होने पर भी कविता में स्वच्छ प्रवाह है तथा वह मनुष्य के आन्तरिक भावों को लेकर ही चली है। शृङ्गार-रस में तो इन्हें इतनी ख्याति प्राप्त हुई कि बाद के अनेक कवियों ने अपने अश्लील भावों को व्यक्त करने के

लिए इन्हीं के नाम से अपनी कविताएँ लिखीं। उत्कृष्ट कल्पना की उड़ान, विषय-विवेचन की विशुद्धता, मधुर तथा हाव-भाव व्यक्त की मूर्ति खड़ी करने वाली अनुभूति, तथा शब्दों की लाक्षणिकता के कारण रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियों में इन्हें स्थान प्रदान किया जाता है। इनके छन्द स्वाभाविक रूप में उपस्थित होकर पाठक के हृदय में तरङ्गों का स्पंदन करके एक स्थायी प्रभाव उत्पन्न करते हैं—

तौ ही लागि चैन जौलौ चेति है न चन्दमुखी,
चेतेगी कहूँ तो चाँदनी में चुरि जायगी।

ऋतु-वर्णन भी अत्यन्त उत्तम है—

बनन में बागन में अगरो बसन्त है।

अतः हम यह कह सकते हैं कि रीतिकाल-रूपी मधुमास के पद्माकर अन्तिम पुष्प हैं, जिन्होंने विकसित होकर साहित्य-वाटिका के सौन्दर्य की अभिवृद्धि की।

इस परम्परा के अन्य कवियों में बेनी, कुलपति मिश्र, नेवाज, सूरतिमिश्र, कृष्णकवि, गज्जन, तोषनिधि, सोमनाथ, रसलीन, दूलह, बेनीप्रवीन, ग्वाल कवि, प्रतापसाहि तथा रसिकगो विन्द इत्यादि हुए, जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों का निर्माण करके परम्परा का निर्वाह किया। पर ये कवि कविता के नियम शृङ्खलाबद्ध, नियमित तथा रीतिबद्ध होने से ही पानी की बाढ़ की भाँति साहित्य में उपस्थित हुए थे। कवि-समाज कविता को हृदय की उपज न मानकर पांडित्य-प्रदर्शन को प्रधानता देने लगे थे। अतः भाव-पक्ष प्रधान न होकर काव्य-कला-पक्ष ही प्रधान हो गया। कविता का वास्तविक सौन्दर्य, जोकि हृदय को परमानन्द में निमज्जित करने वाला होता है, भुला दिया गया और कविता में कृत्रिमता का ही समावेश हुआ। अतः कवि अलंकार-ग्रन्थ-निर्माता ही हुए, तथा वे उसमें भी पूर्ण सफल नहीं हुए। कविता इनकी मर्मस्थल को बेधने वाली तथा एक उच्चादर्श को स्थापित करने वाली न होकर एक बनावटी पथ की ओर शृङ्गार का पुट लिये हुए ही चली।

इस काल में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने रीति-परम्परा का अनुसरण न करके स्वतन्त्ररूपेण अपने भावों को कविता में व्यक्त किया। इन्होंने प्रेम-सम्बन्धी मुक्तक काव्य की रचना तथा भक्ति और नीति-विषयक काव्य पर भी अपनी लेखनी चलाई। इनमें शृङ्गार तथा वीर-काव्य के रचयिता बनवारी, प्रसिद्ध सूक्तिकार वृन्द, प्रेमोन्मत्त शेख तथा आलम, वीर-रस-प्रधान हम्मीररासो के रचयिता जोधराज, साधारण व्यवहार, लोक-व्यवहार शिष्टाचार तथा नीति-सम्बन्धी कुण्डलियों के प्रसिद्ध निर्माणकर्ता गिरिधर कविराय तथा प्रसिद्ध अन्योक्तिकार बाबा दीनदयाल गिरि, शृङ्गार-क्षेत्र में प्रमुख स्थान रखने वाली 'इश्कनामा' और 'विरह-वारीश' के रसोन्मत्त कवि बोधा, शृङ्गार-रस तथा ओजपूर्ण 'हम्मीर-हठ' के निर्माता चन्द्रशेखर वाजपेयी और ब्रजभाषा के कवियों की अन्तिम परम्परा को निभाने वाले द्विजदेव इत्यादि मुख्य हैं।

रीतिकालीन कविता की बाहरी तड़क-भड़क के बाहर सच्चे प्रेम की पीर को व्यक्त करने वाले घनानन्दजी शाही दरबार से सम्बन्धित होते हुए भी अन्त में विरक्त होकर निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित होकर कृष्ण-भक्त हो गए। इन्होंने अपने को वृन्दावन तथा कृष्ण में तल्लीन कर दिया। इनका जन्म संवत् १७४६ और मृत्यु सं० १७९६ में नादिर-शाही के समय में हुई। इनके ग्रन्थों में 'सुजान सागर', 'विरह-लीला', 'रसकेलिवल्ली' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। भाषा विशुद्ध, सरस तथा शक्ति-शालिनी ब्रजभाषा होते हुए भी स्वाभाविक सुव्यवस्थित और स्पष्ट है। लौकिक प्रेम के द्वारा यह अलौकिक प्रेम में तन्मय हुए, क्योंकि सुजान-नामक वेश्या से इनका प्रेम-सम्बन्ध था। बाद में इसका व्यवहार उन्होंने कृष्ण के लिए किया। संयोग तथा वियोग का मार्मिक चित्रण, प्रेम की दशाओं की व्यंजना, तथा भावनाओं की अनूठी अभिव्यक्ति हम इनकी रचना में पाते हैं। संयुक्त और क्लिष्ट वर्णन इनकी रचना में कहीं नहीं आये हैं, इससे वह और भी श्रुति-सुखद है।

प्रसिद्ध सामन्त कृष्णगढ़-नरेश महाराजा सावन्तसिंहजी वृन्दावन

में विरक्त होकर नागरीदास के नाम से प्रसिद्ध हुए। इनकी रचनाओं की संख्या अधिक है। इनकी रचनाएँ भक्ति-रस से युक्त हैं और फारसी-साहित्य के 'आशिकी' तथा सूफियों के प्रेम की उस पर स्पष्ट छाप है। गाने के पदों के साथ-साथ कवित्त, सवैया और रोला आदि छन्दों का भी व्यवहार हुआ है।

इस भाँति कलापक्ष-प्रधान रीतिकालीन कविता हासोन्मुख होती गई, क्योंकि तर्क पर आधारित सिद्धान्तों के विस्तृत विवेचन की अपेक्षा कवि लकीर के-फकीर बने रह गए और वे लक्षण भी यथार्थ और स्पष्ट नहीं दे पाए। साथ ही कविता के क्षेत्र में भी जीवन-सम्बन्धी स्थायी तथा उच्च भावनाएँ लुप्तप्राय हो गईं। अतः कविता की धारा ने अपना मार्ग बदला और राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर वह एक नये मार्ग की ओर अग्रसर हुई। काव्य में गद्य को भी, जिसका आरम्भ गोरखनाथ के समय से ही हुआ था, आदरणीय स्थान प्राप्त हुआ, और गद्य तथा पद्य दोनों से ही हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि हुई। पद्य ने भी एक दूसरे भाग को ही अपनाया, अतः साहित्य के प्राङ्गण में आधुनिक काल ने पदार्पण किया।

आधुनिक काल (गद्य)

रीति-काल के पश्चात् हिन्दी-साहित्य देश की परिस्थितियों से प्रभावित होकर तथा विज्ञानवाद लेकर चला, तथा साहित्य के इतिहास में एक नये अध्याय का समावेश हुआ, जिसे हम आधुनिक युग कहते हैं। देश में सर्वत्र लगी हुई विद्रोह की आग तथा मुगल-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने से अंग्रेज, जो यहाँ केवल व्यापार के हेतु आये थे, साम्राज्य-स्थापन की ओर बढ़ चले। देशी शक्तियों में निरन्तर के संघर्ष तथा देश की आन्तरिक जीवन की अशान्ति से लाभ उठाकर ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी केवल पंजाब को छोड़कर सारे उत्तर-भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुकी थी, और इस ओर उत्तरोत्तर अपने कदम बढ़ा रही थी। पाश्चात्य प्रभाव के कारण वैज्ञानिक आविष्कारों के साथ नवीनता ने प्रवेश किया, और इस नये युग का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। साहित्य केवल मुक्ति और मनोरंजन का साधन नहीं रह गया। उस देश की सामाजिक, राजनीतिक तथा अन्य समस्याओं का भी समाधान देना पड़ा। पद्य या कविता में यह सब देना सम्भव नहीं था, इसलिए इस नवजागरण के काल में गद्य का प्रचार और विकास हुआ। मुद्रण-यन्त्रों के स्थापित हो जाने से गद्य समाचार-पत्रों के रूप में भी जन-समाज के सामने आया। इस तरह अन्य सभ्य देशों की भाँति गद्य की भी उन्नति अबाध गति से होती गई, और इस युग को गद्य-काल कहा गया।

गद्य की इस उन्नति के साथ ही कविता के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए और वह अनेक धाराओं में होकर बही। साथ ही दोनों के क्षेत्र में

ब्रजभाषा को अप्रधानता देकर मेरठ के पास बोली जाने वाली खड़ी बोली को ही अपनाया गया, जिसने हिन्दी-साहित्य को नवीन बाना प्रदान किया। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम इस युग को गद्य-खण्ड तथा पद्य-खण्ड में विभाजित कर सकते हैं।

गद्य का आविर्भाव

गद्य का प्रचलन केवल आधुनिक युग से ही नहीं प्रारम्भ हुआ, यह प्राचीन है, पर यह ब्रजभाषा के गद्य रूप में ही प्रचलित था। गोरखनाथ के सम्प्रदाय ने भी इसे अपनाया था, और नाथ-पंथ की कुछ रचनाएँ भी हम गद्य में पाते हैं। इसके पश्चात् कृष्ण-भक्ति शाखा ने इसे आश्रय प्रदान किया और गोस्वामी विठ्ठलनाथजी के समय में 'शृङ्गार-रस-मण्डल', 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता', 'सूरति मिश्र की वैतालपच्चीसी', 'नाभादास का अष्टयाम' इत्यादि पुस्तकें गद्य में लिखी गईं। इसके पश्चात् संस्कृत ग्रन्थों की टीका करने के लिए ब्रजभाषा गद्य को अपनाया गया, पर उसका विकास अब नष्ट-सा होने लगा। इसने खड़ी बोली के गद्य के विकास के लिए अबाध मार्ग खोल दिया, यद्यपि खड़ी बोली के गद्य का नमूना भी हम कुछ-कुछ पन्द्रहवीं शताब्दी से पाते हैं। अमीर खुसरो तथा अकबर के दरबारी कवि गंग ने भी इसे स्वीकार किया था। अतः जनसामान्य की यह भाषा आधुनिक युग से पहले ही साहित्य के लिए स्वीकृत की गई थी।

जब मुसलमान अरब, फारस तथा तुर्किस्तान से आये तो भारत में प्रचलित 'हिंदवी' उनकी समझ में नहीं आती थी। अतः उन्होंने यहाँ की भाषा को क्रमशः अपनाया और जिस भाषा को इन लोगों ने बोलना प्रारम्भ किया वह 'उर्दू हिन्दी' कहलाई। दिल्ली दरबार ने अपने व्यवहार के लिए खड़ी बोली को ही अपनाया था, जो शिष्ट समुदाय के परस्पर-व्यवहार की भाषा थी। इसी खड़ी बोली को अपनाकर उर्दू-साहित्य खड़ा हुआ, पर इसमें अरबी तथा फारसी के शब्दों का क्रमशः

वाहुल्य होता गया और विदेशीपन का इतना गहरा पुट होता गया कि जनसमाज से यह सर्वथा दूर होती गई ।

पद्य में खड़ी बोली का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से पाया जाता है । पर गद्य के क्षेत्र में भी वह उतनी नवीन नहीं है । सं० १७८८ में रामप्रसाद निरंजनी ने साफ-सुथरी खड़ी बोली में 'भाषा योग वासिष्ठ' नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें गद्य का परिमार्जित तथा परिष्कृत रूप मिलता है । भाषा-गद्य की यही प्रथम पुस्तक मानी जाती है । संवत् १८१८ में वसुआ-निवासी पण्डित दौलतराम का लिखा हुआ ७०० पृष्ठों का एक 'पद्मपुराण' नामक जैन-ग्रन्थ मिलता है, जिसकी भाषा 'योग वासिष्ठ' की भाँति परिष्कृत तो नहीं है, पर अरबी-फारसी से असंबन्धित शुद्ध तथा स्वाभाविक खड़ी बोली का यह नमूना-मात्र है । सं० १८४० के लगभग राजस्थान के किसी लेखक ने साधारण बोलचाल की भाषा में 'मंडोवर-वर्णन' नामक एक ग्रन्थ लिखा । पर यह गद्य-परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में समाप्त हो गई, और आधुनिक परम्परा का प्रादुर्भाव मुन्शी सदासुखलाल, लल्लूलालजी, सदाश मिश्र तथा इन्शाअल्लाखाँ इन्हीं चार महानुभावों द्वारा हुआ । कुछ लोगों का यह विचार है कि अंग्रेजों की प्रेरणा से ही हिन्दी-गद्य का प्रारम्भ हुआ । लल्लूलाल जी, जिन्होंने फोर्ट विलियम कालेज के डा० गिल-क्राइस्ट के कहने से 'भाखा' के मुहावरों का परिचय कराने के लिए अपने 'प्रेम-सागर' की रचना की थी, उनके भी पहले मुन्शी सदासुखलाल ने अरबी तथा फारसी के लेखक होते हुए भी जगह-जगह पर शुद्ध संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग अपने 'सुख-सागर' में करके आधुनिक-साहित्य का आभास दिया । इन्होंने जन-समुदाय द्वारा व्यवहृत शिष्ट भाषा को ही अपनाया ।

इन्शा-अल्लाखाँ उर्दू के अच्छे शायर थे । इनका जन्म मुर्शिदाबाद में हुआ था । हिन्दी में भी उन्होंने 'छूट हिंदवी अर्थात् ठेठ हिन्दी' के परमोद्देश्य से 'उदयभान-चरित' अथवा 'रानी केतकी की कहानी' लिखी ।

यद्यपि इन्होंने गँवारी, बाहर की बोली तथा संस्कृतनिष्ठ हिन्दी से बचने की प्रतिज्ञा की थी फिर भी फारसी-ढंग का वाक्य-विन्यास कहीं-कहीं आ ही गया। लल्लूलालजी आगरे के निवासी थे। अंग्रेज अफसरों को भारतीय भाषा सिखाने के लिए कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई थी। पर 'भारतीय भाषा' के नाम पर यहाँ उर्दू-फारसी ही पढ़ाई जाती थी, जो जन-साधारण से कोसों दूर थी। यहीं लल्लूलाल जी तथा सदल मिश्रजी को डा० गिलक्राइस्ट महोदय ने खड़ी बोली के गद्य में पुस्तकें लिखने के लिए कहा। उर्दू का अनुकरण करके लल्लूलालजी ने 'सिंहासन-वत्तीसी', 'वैतालपच्चीसी' आदि पुस्तकें लिखीं, और खड़ी बोली गद्य में 'प्रेम-सागर' लिखा। इन्होंने विदेशी शब्दों को भाषा में आने से बचाया है, तथा भाषा की सजावट हम इनके 'प्रेम-सागर' में पाते हैं। यत्र-तत्र अनुप्रास भी है, तथा मुहावरों के प्रयोग भी कम हैं। इन्होंने 'हितोपदेश' की कहानियाँ ब्रज-भाषा गद्य में लिखीं तथा बिहारी सतसई की 'लाल-चन्द्रिका' नामक टीका भी प्रस्तुत की।

सदल मिश्र बिहार के रहने वाले थे। लल्लूलाल जी की भाँति इन्होंने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। इसमें व्यवहार में आने वाली भाषा का प्रयोग किया, जो ब्रजभाषा तथा परम्परागत भाषा से भिन्न थी। पर भाषा अव्यवस्थित ही रही। उसमें एकरूपता नहीं आ पाई और पूर्वी का भी उचित समावेश हुआ। परन्तु इनकी भाव प्रकाशन की पद्धति सुन्दर और आकर्षक है।

. ईसाइयों ने अपने धर्म के सम्यक् प्रचार के लिए बाइबल का अनुवाद हिन्दी में करके जनसमूह के सामने उपस्थित किया। इन्होंने मुंशी सदासुखलालजी की विशुद्ध भाषा का अनुकरण करके गद्य के विकास में हाथ बँटाया। इनकी भाषा ठेठ हिन्दी ही रही। अंग्रेजी शिक्षा के कारण 'बुक-सोसाइटियों' की स्थापना हुई, और गद्य के द्वारा हिन्दी का प्रचार हुआ। इसी समय पं० जुगलकिशोर ने अपना हिन्दी

का पहला समाचार-पत्र 'उदंत-मार्तण्ड' निकाला। इस समय यहाँ मेकाले इत्यादि के द्वारा अंग्रेजी शिक्षा का प्रबन्ध हुआ, और इसके साथ ही उनका ध्यान अदालती भाषा की ओर गया। दफ्तरों की भाषा अभी तक फारसी ही थी, अतः सरकार ने संवत् १८६३ में प्रचलित भाषाओं के प्रयोग के लिए इश्तहारनामे निकाले। पर मुसलमानों ने इसका घोर विरोध करके उर्दू का ही जन-साधारण पर विवश करके लदवाया। देश-भाषा के नाम पर उर्दू पढ़ाई जाने लगी। हिन्दी के विरोध की चेष्टा बराबर बढ़ती गई, और अंग्रेजों के कृपापात्र सरसैयद अहमदखाँ तथा गासाँद तासी इत्यादि ने इसे गँवारु बोली बताकर अंग्रेजों को उर्दू की ओर आकृष्ट किया।

पर निश्चित मन और नीचे बहते हुए पानी को कौन उसके मार्ग के विरुद्ध लौटा सकता है, और हिन्दी-उर्दू के इस खींचातानी के युग में काशी के राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह हिन्दी का पक्ष लेकर मैदान में आये। राजाजी शिक्षा-विभाग में इन्स्पेक्टर थे। इन्होंने उर्दू का पुट देकर एक अखबार 'बनारस अखबार' के नाम से निकाला। लोगों ने हिन्दी को जो 'मुश्किल जवान' की उपाधि देकर दूर फेंक रखा था उसमें अरबी-फारसी के चलते शब्दों को देकर इन्होंने ठेठ हिन्दी का ही आश्रय लिया। इन्हीं के प्रयत्न से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई और स्कूलों में हिन्दी को स्थान मिला। राजाजी ने स्वयं तथा अपने मित्र पं० वंशीधर, पं० श्रीलाल, श्री बद्रीलाल आदि से पाठ्य-क्रम के लिए हिन्दी में पुस्तकें लिखवाईं। इस समय हिन्दी में 'सुधाकर', 'बुद्धि-प्रकाश', 'प्रजा-हितैषी' तथा 'लोक-मित्र' इत्यादि पत्र भी निकले।

राजा लक्ष्मणसिंह ने मुन्शी सदासुख की भाँति परम्परागत विशुद्ध भाषा को अपनाया, और भाषा के सम्बन्ध में लोगों की आँखें खोल दीं। यह भाषा यद्यपि ठेठ तथा सरल है, फिर भी रस-सिद्ध तथा संस्कृत में व्यवहार किये गए शब्दों को लेकर चली है। इन्होंने 'रघुवंश'

तथा 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' का अनुवाद किया। इन्हीं में हम वर्तमान हिन्दी गद्य का आभास पाते हैं। इसी समय स्वामी दयानन्दजी सरस्वती ने वैदिक एकेश्वरवाद को लेकर वैदिक धर्म का डंका बजाया और अपना 'सत्यार्थ प्रकाश' हिन्दी या आर्य-भाषा में प्रकाशित किया तथा हिन्दी-गद्य के प्रचार में हाथ बँटाया। पंजाब के पण्डित श्रद्धाराम ने भी स्वामी दयानन्द की भाँति अपना सिद्धान्त-ग्रन्थ 'सत्यामृतप्रवाह' प्रौढ़ हिन्दी-गद्य में लिखा। अतः हिन्दी-गद्य का स्वरूप स्थिर करने में धार्मिक और सामाजिक आन्दोलनों ने भी सहायता पहुँचाई। हिन्दी-गद्य एक निर्धारित मार्ग पकड़ चुका था। अब ऐसा समय उपस्थित हो गया था कि कोई प्रतिभा-सम्पन्न लेखक, जनता की रुचि तथा माँग के अनुकूल भाषा तथा शैली को सुव्यवस्थित तथा परिमार्जित करके, साहित्य को एक उपयुक्त ढाँचे में ढालने के लिए आगे बढ़े। इस कार्य की पूर्ति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने की और यह गद्य का युग भारतेन्दु-युग कहा जाता है।

भारतेन्दु युग

अतः आधुनिक युग का आरम्भ भारतेन्दु-युग अथवा संवत् १६०० से ही हुआ, क्योंकि भारतेन्दु के पदार्पण से साहित्य-क्षेत्र में एक नवीन क्रान्ति हुई और प्राचीन विचार-धारा सर्वथा परिवर्तित हो गई। साहित्य की इस नवजागृति में तात्कालिक परिस्थितियों ने भी अपूर्व सहयोग प्रदान किया। सामान्यतया उस समय का समाज पाश्चात्य संस्कृति के अनुराग तथा विराग के झूले में झूल रहा था, और भारतेन्दुजी तथा उनके सहयोगी साहित्यिकों ने साहित्य के सुधार-पान से ही मृतप्राय संस्कृति को पुनर्जीवित करने का बीड़ा उठाया। इस युग ने साहित्य के प्रत्येक अंग को अपनाया। क्या गद्य, क्या पद्य, दृश्यकाव्य-निबन्ध आदि सभी की धाराएँ चल पड़ीं। परिमार्जित तथा व्यवस्थित भाषा का निर्माण करके वीर, भक्ति तथा शृङ्गार तीनों का सामञ्जस्य लेकर के आधुनिक साहित्य ने शैशवावस्था को पार करके

बाल्यावस्था में प्रवेश किया और गद्य के स्वरूप प्रतिष्ठापन के साथ-ही-साथ वर्तमान साहित्य की परम्परा का प्रवर्तन भी हुआ। भारतेन्दुजी के प्रभाव के कारण उनके समय में ही लेखकों का एक दल तैयार हो गया जिनमें प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, पं० बदरी नारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, कार्तिकदास खत्री और फेडरिक पिण्टक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हिन्दी-गद्य की सर्वतोमुखी गति हुई और हिन्दी का प्रचार भी अनेक अनूदित नाटकों, मासिक तथा दैनिक पत्र-पत्रिकाओं के कारण हुआ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—इनका जन्म संवत् ११०७ में काशी के एक प्रतिष्ठित वैश्यकुल में हुआ था और मृत्यु ३५ वर्ष की ही अवस्था में सं० ११४१ में हुई। यह बचपन से ही काव्य-प्रतिभा की ओर झुके हुए थे। अपनी अतुल पैतृक सम्पत्ति को साहित्य-सेवा में इन्होंने अर्पित कर दिया। ये शतरंज के कुशल खिलाड़ी, मार्मिक सङ्गीतज्ञ, कुशल अभिनेता तथा हास्य और व्यंग के आचार्य थे। इन्होंने देश-प्रेम, समाज-सुधार, स्त्री-शिक्षा आदि की भावनाओं से प्रेरित होकर साहित्य और समाज की विचार-धारा का सामञ्जस्य स्थापित किया। साहित्य के साथ-साथ भाषा तथा शैली का निर्माण उनका दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है, और हिन्दी गद्य-शैली को अनिश्चितता के गर्त से निकालकर उसे वह निर्दिष्ट मार्ग पर ला सके। इस तरह भाषा तथा शैली का निखरा हुआ रूप लोगों के सामने आया। इन्होंने तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर और भावपक्ष से ओत-प्रोत होकर, छोटे-छोटे वाक्यों तथा चलतापन लिये हुए भावावेश की शैली, तथा संस्कृत शब्दों का पुट लिये हुए सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली तथ्य निरूपण शैली को अपनाया। अब तक हिन्दी में नाटकों का सर्वथा अभाव था। बंग-यात्रा से लौटने पर उस प्रदेश की भाषा के नाटक तथा उपन्यासों का इन पर गहरा प्रभाव पड़ा और अपने मौलिक तथा अनूदित नाटकों से इन्होंने

हिन्दी-साहित्य को भर दिया, जिसमें 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'चन्द्रावली', 'भारत दुर्दशा', 'मुद्रा-राक्षस' तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र' इत्यादि मुख्य हैं। ये प्रेम के आदर्श, समाज सुधार की भावना, देश-प्रेम, इत्यादि-से ओत-प्रोत हैं। ये नाटक प्राचीन भारतीय रूपक शैली तथा पाश्चात्य नाटक-रचना के बीच अपूर्व सामञ्जस्य स्थापित करते हैं।

इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। यह इतिहास-रचना की ओर भी मुड़े थे। यह एक रस-सिद्ध कवि भी थे। इन्होंने रीति-कालीन कवियों की भाँति मार्मिक कवित्त तथा सदैव राधाकृष्ण की भक्ति में लिखे, पर दूसरी ओर समाज तथा देश-सुधार की भावना की ओर भी इनका ध्यान रहा। अतः इनमें हम नवीनता तथा प्राचीनता दोनों का उचित समावेश पाते हैं। हिन्दी तथा इसकी गद्य-शैली के प्रचार के लिए इन्होंने 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन' तथा 'हरिश्चन्द्र-पत्रिका' निकाली जिनके द्वारा हिन्दी में निबन्ध-रचना का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने हिन्दी-साहित्य की अमूल्य सेवा की और कुल मिलाकर १७५ छोटे-मोटे ग्रन्थ लिखे। अतः यह युग प्रवर्तक कहे जाते हैं।

प्रतापनारायण मिश्र—इनका जन्म संवत् १६१३ में और मृत्यु सं० १६५१ में हुई। ये भी भारतेन्दु की भाँति ही मौजवी स्वभाव के कलाकार थे और संस्कृत, फारसी, अरबी तथा बंगला इन सबका अध्ययन इन्होंने किया था। मौज में आकर ये सब-कुछ भूल जाते थे और लावनी बाजों के साथ घूमा करते थे। यद्यपि इनकी शैली भारतेन्दु से ही प्रभावित है, फिर भी इसमें कुछ भिन्नता तथा अपनापन है। व्यंग्य-रसकता तथा लोकप्रियता इनमें सबसे अधिक है, तथा भाषा पूरबीपन न लेकर बैसवारों की ग्राम्य कहावतों से भरी हुई है। इनकी रचनाओं में भाषा की स्वच्छन्द गति, बात चीत करने की चपलता, हास्य और विनोद का यत्र-तत्र पुट, तथा चलते-फिरते मुहावरों की भरमार दिखाई पड़ती है। गम्भीर-से-गम्भीर विषय को भी इन्होंने मनोरंजक रूप में व्यक्त किया है। इनकी लेखनी देश-दशा, समाज-सुधार, नागरी हिन्दी

प्रचार इत्यादि सभी विषयों पर चली है। विषय के साथ-ही-साथ 'वृद्ध', 'कनातन कडौल बाँधे,' 'धूरेकलत्ता बिनै,' 'समझदार की मौत है,' 'भौ' इत्यादि इनके निबन्धों के शीर्षक भी आकर्षक ही हैं। इन्होंने शासन में हिन्दी की दुर्गति देखकर कई निबन्ध हास्य-विनोद से ओत-प्रोत लिखे और व्यवहार में लाई जाने वाली उर्दू-फारसी का विरोध किया। संयत और गम्भीर विषय पर भी इन्होंने लेख लिखे। इन सब लेखों को अपने स्वसम्पादित 'ब्राह्मण' पत्र के द्वारा ही उन्होंने जनता के सामने रखा था। इनके अतिरिक्त 'कलिकौतुक रूपक', 'भारत दुर्दशा,' 'हठी हमीर' इत्यादि नाटक तथा लावनी के तर्ज पर 'संगीत शाकुन्तल' और 'गोसंकट' इत्यादि प्रहसन के भी यह रचयिता हुए। घोर दमन के युग में व्यंगात्मक शैली को अपनाकर समाज में इन्होंने उथल-पुथल मचा दी। साथ ही निबन्ध-साहित्य के प्रवर्तक भी हुए। इनकी शैली का निम्नांकित नमूना है—

सच है 'सबसे भले हैं मूढ़ जिन्हें न व्यापै जगत गति'। मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई तिथि त्यौहार आ पड़ा तो गंगा में बदन धो आना।

पं० बालकृष्ण भट्ट—इनका जन्म प्रयाग में सं० १६०१ और देहा-वसान सं० १६७१ में हुआ। ये प्रयाग के कायस्थ पाठशाला कालेज में संस्कृत के अध्यापक थे। इन्होंने यहीं पर 'हिन्दी प्रवर्धिनी सभा' की स्थापना करके संवत् १६३३ में गद्य-साहित्य की धारा को एक निर्धारित मार्ग में ले जाने वाले अपने 'हिन्दी-प्रदीप' नामक पत्र को निकाला। इस पत्र में सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक आदि सभी विषय के निबन्ध प्रकाशित होते थे। यद्यपि इनकी लेखन शैली प्रतापनारायण जी मिश्र के ही समान है और हास्य तथा विनोद का इसमें अपूर्व पुट है, पर इसमें कदावतों तथा मुहावरों का बाहुल्य है, साथ ही यह व्यंग तथा वक्रता लिये हुए है। आँख, कान, नाक इत्यादि छोटे-छोटे विषयों पर इन्होंने बड़ी ही चुस्त तथा मुहावरेदार भाषा में आकर्षक निबन्धों की

झड़ी लगा दी है। इनकी भाषा में भी पूरबी शब्दों का प्रयोग है तथा 'समझा-बुझाकर' के स्थान पर 'समझाय-बुझाय' ही लिखा गया है। साथ ही कोष्ठों में अंग्रेजी शब्दों को भी रखा है जिससे शिक्षित लोग हिन्दी की ओर आकृष्ट हो सकें। अरबी तथा फारसी के शब्द भी इन्होंने बेधड़क होकर व्यवहार में लाए हैं। इस तरह इनकी शैली चिढ़चिड़ाहट तथा एक निरालापन लिये हुए है। अपने पत्र के द्वारा संस्कृत-साहित्य के कवियों का भी परिचय इन्होंने कराया है, निबन्धों के अतिरिक्त 'कलिराज की सभा,' 'रेल का विकट खेल,' 'बाल-विवाह नाटक', इत्यादि छोटे-मोटे नाटक, तथा 'पद्मावती' और 'शर्मिष्ठा' नामक बंगला के दो नाटकों का अनुवाद भी इन्होंने किया है। इनकी शैली का उदाहरण देखिए—

यावत् मिथ्या और द्रोग की किवले गाह इस कल्पना पिशाचिनी का
कहीं ओर-छोर किसी ने पाया है ? अनुमान करते-करते हैरान गौतम से
मुनि 'गोतम' हो गए। कणाद तिनका खाकर किनका चीनने लगे, पर मन
की मन-भावनी कन्या कल्पना का पार न पाया।

उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन—इनका जन्म सं० १९१२ और मृत्यु सं० १९७९ में हुई। ये भारन्तेदुजी के मित्रों में से थे। गद्य के अतिरिक्त इन्होंने ब्रजभाषा में कविता, श्लोक, कवित्त तथा सवैये आदि भी लिखे हैं। इनकी भाषा तथा शैली विलक्षण तथा अलंकृत है। कादम्बरी की लेखन-कला का दर्शन हम इनके गद्य में पाते हैं, जिसमें पद-विन्यास तथा लम्बे वाक्यों की भरमार है। इनके लेख परिष्कृत तथा परिमार्जित हैं। यद्यपि गद्य-शैली में इन्होंने कला-पक्ष को विशेष स्थान प्रदान किया है, फिर भी रचना आडम्बरहीन ही है। भट्टजी की भाँति समालोचना के भी ये ही प्रवर्तक माने जाते हैं। इन्होंने 'भारत सौभाग्य', 'प्रयाग रामागमन', इत्यादि कई नाटक भी लिखे हैं।

ठाकुर जगमोहनसिंह—जयपुर-राज्य-वंश के सम्बन्धी कछवाहे राजपूत तथा संस्कृत और अंग्रेजी साहित्य के अच्छे जानकार और हिन्दी

के यह प्रेम-पथिक कवि काशी में रहते हुए भारतेन्दुजी के सम्पर्क में आये । इन्होंने विन्ध्याचल के रमणीय प्रदेश में निवास करने के कारण तथा संस्कृत-साहित्य के सम्पर्क से अनेकरूपा प्रकृति के परम रूप का सच्चा साक्षात्कार प्राप्त करके वास्तविक वर्णन किया । इनकी शैली माधुर्य गुण को ही लेकर चली है । साथ ही मानव तथा प्रकृति का सामंजस्य हम इनमें पाते हैं । यह पड़ले हिन्दी लेखक थे, जो शब्द-विधान के चातुर्य को प्रधानता प्रदान न करके रूप-विधान की विलक्षणता की ओर झुके, जो भावों की प्रबलता को लिये हुए थी । इनकी रचनाओं में 'श्यामा-स्वप्न,' 'श्यामलता,' 'देवयानी,' 'प्रेम-रत्नाकर', इत्यादि प्रसिद्ध हैं ।

भारतेन्दु-युग के अन्य लेखकों में लाला श्रीनिवासदास, पं० अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी, पं० मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, राधाकृष्णदास, कार्तिकदास खत्री आदि हुए जिन्होंने साहित्य के विविध अङ्गों को अपनाकर हिन्दी-साहित्य के अक्षय भंडार को भरा । इस युग में भाषा, कविता, नाटक, कहानी, उपन्यास, निबन्ध एवं समाचारपत्रों की भरमार आरम्भ हुई, और लोगों की दृष्टि हिन्दी भाषा की ओर मुड़ी । इस तरह हिन्दी का प्रचार-कार्य भी जोरों से चला । जन-सामान्य और शासन-विधान में हिन्दी को प्रचारित करने का कार्य भी उस समय की एक और महत्वपूर्ण समस्या थी और समाज-सुधारक तथा साहित्य-सेवियों ने इसे सुलझाने का अथक परिश्रम किया । भारतेन्दुजी के गोलोकवास के पश्चात् हिन्दी-साहित्य की यह प्रगति उत्तरोत्तर उन्नति करती रही, और हिन्दी भाषा और नागरी लिपि के प्रचार, प्रसार तथा उन्नति को ध्यान में रखते हुए डा० श्यामसुन्दरदास जैसे साहित्य-मनीषी तथा उनके सहयोगियों ने मिलकर प्राचीन साहित्यिक खोज तथा अनुसन्धान के लिए उच्च साहित्य की प्रेरणा प्रदान करने वाली तथा कोश, व्याकरण और मार्मिक तथा गम्भीर लेखों से हिन्दी-साहित्य के खजाने को भरने वाली प्रसिद्ध काशी नागरी प्रचा-

रिणी सभा की स्थापना सं० १६५० में की। साथ ही पं० मदनमोहन मालवीय-जैसे सच्चे हिन्दू कर्मठ नेता के नेतृत्व में, अयोध्या-नरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह, राजा साहब मांढा, राजा बलवन्तसिंह, डाक्टर सुन्दरलाल-जैसे सुयोग्य और शिष्ट व्यक्तियों का एक डेपुटेशन नागरी का मेमोरियल लिखे हुए युक्तप्रान्त (उत्तर प्रदेश) के गवर्नर महोदय से मिला और इन्हीं भाषा तथा लिपि प्रेमियों के सतत उद्योग से संवत् १६५७ में कचहरियों में नागरी का वांछित तथा न्यायपूर्ण प्रवेश हो गया। इस भांति भारतेन्दु युग खड़ी बोली का प्रचार-युग ही था। साथ ही भाषा का व्याकरण द्वारा संस्कार तथा खड़ी बोली की कविता में आसन अभी तक नहीं प्राप्त हो सका था। ऐसी ही परिस्थिति में द्विवेदी युग का आविर्भाव हुआ, और इस आचार्य ने हिन्दी संसार में उपस्थित उपयुक्त समस्याओं का समाधान कर दिया। अतः हिन्दी साहित्य का द्वितीय उत्थान हुआ जिसका समय सं० १६५० से १६७५ के आसपास तक आँका जाता है।

द्विवेदी-युग

हिन्दी गद्य के प्रथम उत्थान में हम साहित्य की कुमारावस्था के दर्शन करते हैं। इस युग के लेखकों की रुचि साधारण जन-समाज को हिन्दी-साहित्य की ओर आकृष्ट करना-मात्र थी, और हिन्दी गद्य-साहित्य की स्वतन्त्र सत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी थी। पर भाषा का परिमार्जन अभी अच्छी तरह नहीं हो पाया था। लोग अंग्रेजी तथा बँगला का अनुकरण करके ही अपनी रचना किया करते थे, जिससे भाषा कोई अपना विशिष्ट निर्धारित रूप लिये नहीं थी, प्रत्युत अपने अनुसार जिससे जैसा बनता था वैसा ही साध लेता था। रीतिकाल की ब्रजभाषा की भाँति हरिश्चन्द्र-युग की खड़ी बोली भी व्याकरण संस्कार से हीन थी। खड़ी बोली में पद्य की प्रतिष्ठा तथा निश्चित शैलियों के निर्धारण की ओर भी विद्वानों का ध्यान जा रहा था। यह युग नवीनता तथा प्राचीनता के सम्मिश्रण को ही लेकर उपस्थित हुआ था।

अतः इन परिस्थितियों में गद्य का यह द्वितीय उत्थान अथवा द्विवेदी-युग का प्रादुर्भाव हुआ। राजनीति ने भी सन् १९०५ के 'बंग-भंग-आन्दोलन' द्वारा, राज्यभक्ति-मिश्रित देशभक्ति को लात मारकर जनता को शुद्ध राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत किया। अतः इस क्रान्ति का साहित्य पर भी प्रचुर प्रभाव पड़ा, और इसमें भी क्रान्ति उपस्थित हुई। साहित्य के समालोचना, उपन्यास तथा निबन्ध आदि अंगों के निरूपण की ओर भी साहित्य-सेवियों का ध्यान गया। ऐसी ही परिस्थितियों में आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी हिन्दी-गगन में दिखाई पड़े, जिन्होंने व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की अस्थिरता को प्रदर्शित करके साहित्य को एक नये मार्ग की ओर मोड़ दिया। भारतेन्दु बाबू के सदृश द्विवेदी जी ने भी शैली की अनेकरूपता और अनेकानेक नवीन विषयों की ओर लेखकों का ध्यान आकृष्ट किया। साथ ही गद्य-लेखकों की शैली इतनी मँजी कि शैली को देखकर ही लेखकों को पहचाना जा सकता था। इस उत्थान के भीतर गद्य-साहित्य का क्षेत्र विस्तृत हो गया और यह नाटक, उपन्यास, निबन्ध, समालोचना के द्वारा विकसित हुआ।

नाटकों में अनूदित नाटक ही अधिक रहे, जिनमें गोपालराम गहमरी, रायबहादुर लाला सीताराम, परिडत ज्वालाप्रसाद मिश्र तथा पं० सत्यनारायण कविरत्न के अनूदित नाटक मुख्य हैं। मौलिक नाटकों में परिडत किशोरीलाल गोस्वामी ने 'चौपट-चपेट', 'मयंकमंजरी', पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रुक्मिणी विजय' और कबिराय देवीप्रसाद पूर्ण ने 'चन्द्रकला-भानुकुमार' नाटक लिखा।

उपन्यास के क्षेत्र में भी यही बात रही। इसमें भी पहले अनुवादों की भरमार रही, जिसमें बाबू गोपालराम गहमरी का 'चतुर चंचला' 'भानुमती', बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्रदत्त, शरत् बाबू कृत उपन्यासों के अनुवाद, अंग्रेजी के 'लैला' और 'लन्दन-रहस्य' नामक अनूदित उपन्यास उल्लेखनीय हैं। मौलिक उपन्यास लेखकों में काशी के बाबू

देवकीनन्दन खत्री ने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-संतति' नामक घटना-वैचित्र्यपूर्ण उपन्यासों को प्रस्तुत किया, जिनको पढ़ने के लिए जो लोग हिन्दी नहीं जानते थे, उन्होंने भी हिन्दी सीखी। दूसरे मौलिक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी हुए जिन्होंने 'तारा', 'चपला' 'तरुण तपस्विनी' इत्यादि उपन्यासों के द्वारा समाज के सजीव चित्र, वासनाओं के रूप रंग, तथा मनमोहक वर्णन उपस्थित किये। उन्होंने 'उपन्यास' नामक एक मासिक पत्र भी निकाला, और लगभग पैंसठ छोटे-बड़े-उपन्यास लिखे। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' नाम के दो उपन्यास लिखे, पर इन दोनों पुस्तकों में ठेठ हिन्दी का नमूना ही हिन्दी-प्रेमियों के सामने रखा गया है, जो औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है। उपाध्यायजी के साथ-ही-साथ हिन्दू मर्यादा और हिन्दू-धर्म का दिग्दर्शन कराने के लिए पं० लज्जाराम मेहता ने भी 'धूर्तरसिकलाल' और 'हिन्दू गृहस्थ' नाम के दो उपन्यास लिखे।

द्विवेदीजी की 'सरस्वती' पत्रिका द्वारा अंग्रेजी आख्यायिकाओं के अनुकरण पर बंग भाषा में गल्प के नाम से प्रसिद्ध कहानियों के समान हिन्दी में भी मार्मिक और भाव व्यंजक खण्ड-चित्रों को उपस्थित करने वाली छोटी-छोटी कहानियों का अभ्युदय हुआ। इस युग के प्रथम कहानी-लेखकों में 'इन्दुमती' तथा 'गुलबहार' के लेखक किशोरीलाल गोस्वामी हुए। 'ग्यारह वर्ष का समय' पं० रामचन्द्र शुक्ल ने और 'पण्डित और पण्डिताइन' गिरिजादत्त वाजपेयी ने लिखा। बाबू जयशंकर प्रसाद ने भी इसी युग में अपनी कहानियों का प्रारम्भ किया था। हिन्दी के प्रसिद्ध कहानी-लेखक पं० विश्वम्भरनाथ 'कौशिक', राजा राधिकारमण-प्रसादसिंह, ज्वालादत्त शर्मा तथा चतुर्सेन शास्त्री भी कहानी लिखने के लिए इसी काल में झुके। प्रेमचन्द्र भी संवत् १९७३ से ही कहानी कला में प्रवृत्त हुए। अंग्रेजी की उच्च शिक्षा से सम्पन्न तथा प्रसिद्ध 'समालोचक' पत्र के सम्पादक श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी अपनी अनोखी

लेखन-शैली के साथ साहित्य-क्षेत्र में द्विवेदी युग में ही आए थे। अनेक गम्भीर विषयों की ओर इनकी शैली विनोद तथा चुटकियों का पुट लिये चलती थी, अतः इनकी शैली में हमें विशिष्टता और अर्थ-गर्भित वक्रता के दर्शन होते हैं। इनकी अद्वितीय कहानी 'उसने कहा था' हिन्दी-साहित्य में अपना एक अपूर्व स्थान रखती है, जिसमें कथोपकथन, कथानक तथा चरित्र-चित्रण के साथ-ही-साथ कहानी अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुँच गई है और मर्यादा की परिधि के अन्दर ही भावुकता की पराकाष्ठा को प्राप्त कर सकी है। घटना ही कथानक को आगे बढ़ाती है। इसी के अन्दर हमें अनन्त प्रेम के दर्शन प्राप्त होते हैं। द्विवेदी युग में ही गद्य की कसौटी 'निबन्ध' का प्रादुर्भाव हुआ और व्यक्तित्व प्रकट करने वाले निबन्ध लिखे गए। इन्हीं निबन्ध-लेखकों में पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, बाबू बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दर दास, पं० माधवप्रसाद मिश्र पं० गोविन्द नारायण मिश्र इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—इनका जन्म रायबरेली के दौलतपुर गाँव में सं० १६२७ में और देहावसान सं० १९६५ में हुआ। इन्होंने अपने जन्म के चालीसवें वर्ष में अपने प्रौढ़ हाथों से 'सरस्वती' नामक पत्रिका का इतना सुन्दर सम्पादन किया कि उसके द्वारा हिन्दी-संसार में एक नवीन जीवन का संचार हुआ। ये अंग्रेजी, बँगला, गुजराती, मराठी, संस्कृत तथा फारसी के अच्छे ज्ञाता थे। सरस्वती के सम्पादन-युग में ही हिन्दी के गद्य-पद्य का अपने ढंग से इन्होंने परिष्कार किया। इनके पहले गद्य की भाषा ऊँड़-खाबड़ थी और उसमें कोई नियमित परिपाटी नहीं थी। पर इन्होंने अपनी चेष्टा से भाषा को सीधी-सादी तथा समय के उपयुक्त करके उसे सब तरह के भाव तथा विचारों को प्रकट करने के समर्थ बनाया। अतः इसी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर इन्होंने हिन्दी के गद्य-पद्य को अपने मस्तिष्क के ढाँचे में ढालकर सुन्दर सुडौल बना दिया। यद्यपि इसके लिए अनेक वादविवाद हुए, पर अन्त में द्विवेदीजी की शैली ही लोकप्रिय हो गई। इनके निबन्ध

इतने गूढ़ नहीं हैं, जिनकी विचार-पद्धति से प्रभावित होकर पाठक अपने को कल्पनाओं के नये संसार में पाये; और शुक्लजी के शब्दों में, इनके लेखों से ऐसा जान पड़ता है कि 'इन्होंने इसे मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिखा है।' पर इनकी यह शैली किसी को शास्त्रार्थ में हाराने के उपयुक्त ही है। इसमें छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग तथा नपे-तुले वाक्यों की पुनरुक्ति है, फिर भी भाषा-संस्कार की दृष्टि से यह व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक माने जाते हैं। 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाले लेखों का संशोधन करके, लेखकों को सावधानी के साथ लिखने की ओर इन्होंने आकृष्ट किया। इनके अन्दर व्यंगात्मक, आलोचनात्मक तथा गवेषणात्मक तीनों शैलियों का उचित समावेश था।

खड़ी-बोली पद्य के तो यह प्रथम प्रवर्तक हैं। श्रीधर पाठक तथा प्रतापनारायण मिश्र जैसे ब्रजभाषा के प्रवर्तक भी इनके सामने झुक गए। द्विवेदीजी ने प्रेम की प्राचीन परिपाटी का परित्याग करके स्वदेशानुराग की ओर अपना ध्यान आकृष्ट किया और हिन्दी के मात्रिक छन्दों के साथ-साथ संस्कृत के वर्ण-वृत्तों को भी उचित महत्त्व प्रदान किया। इन्हीं की प्रेरणा से अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रियप्रवास', गुप्तजी ने 'भारत-भारती' तथा रामनरेश त्रिपाठी ने 'स्वप्न पथिक' नामक काव्य लिखे। इसके अतिरिक्त इन्होंने दूसरे भाषी-भाषी लेखकों को भी हिन्दी लिखने के लिए उत्साहित किया, जिसमें प्रेमचन्दजी तथा ग्रंगेजी के प्रसिद्ध लेखक श्री सेन्टनिहालसिंह जी के नाम उल्लेखनीय हैं। प्रेमचन्द जी तो उर्दू से हिन्दी के गद्य क्षेत्र में ही आ गए। इस तरह एक निपुण माली की भाँति हमारे साहित्योद्यान को काट-छाँटकर परिष्कृत करने वाले आचार्य द्विवेदीजी ने भाषा, विषय, शैली आदि सभी दृष्टियों से अभिनव चेतना और स्वच्छता के साथ-साथ, साहित्य को नवीन रूप में सजाकर जन-समाज के सामने रखा। यह स्वयं भी हिन्दी में एक बड़े साहित्य के निर्माता हुए और छोटे-बड़े निबंधों तथा लेखों

के अतिरिक्त इन्होंने और दूसरे चालीस ग्रंथ लिखे या अनूदित किया। काबिदास के रघुवंश और कुमारसंभव के पद्यबद्ध अनुवाद और महा-भारत का संक्षिप्त गद्यानुवाद इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। अपनी इति-वृत्तात्मक कविता के द्वारा हिन्दी-साहित्य में छायावाद के बीज बोने वाले यही मनीषी थे। आपके विषय में हिन्दी के युग-निर्माता कवि सुमित्रानन्दन पन्त जी लिखते हैं—

भागतेन्दु कर गये भारती का वीणा निर्माण,
किया अमर स्पर्शों ने जिसका बहुविधि स्वर-सन्धान।
निश्चय उसमें जगा आपने प्रथम स्वर्ण भंकार,
अखिल देश की वाणी को दे दिया एक आकार ॥

बाबू बालमुकुन्द गुप्त—इनका जन्म पंजाब के रोहतक जिले के गुर्यानी गाँव में संवत् १९२२ में और मृत्यु संवत् १९६४ में हुई। ये उर्दू के अच्छे ज्ञाता थे तथा कलकत्ते के प्रसिद्ध पत्र ‘बंगवासी’ तथा ‘भारतमित्र’ के सम्पादक थे। ये प्रतापनारायण मिश्र की भाँति व्यंग तथा हास्यप्रिय व्यक्ति थे। इन्होंने द्विवेदीजी की ‘आत्माराम’ के नाम से आलोचना भी की थी। इनके निबन्धों का संग्रह ‘गुप्त-निबन्धावली’ के नाम से प्रकाशित हुआ है। सामूहिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर कई मनोरंजक प्रबन्धों को इन्होंने हिन्दी जगत् के सामने प्रस्तुत किया जिनमें ‘शिव शिम्भू के चिट्ठों का’ नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उर्दू के अच्छे लेखक होने के कारण इनमें हमें चलतापन, सजीवता तथा विनोदप्रियता के दर्शन होते हैं। किसी भी विषय में ये विनोद का अच्छा पुट देते थे और इसी विनोद-दात्मक शैली के अन्दर भावों का उचित समावेश रहता था। इनकी शैली का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं, चीलें नीचे उतर रही हैं। तबियत भुरभुरा उठी। इधर भंग उधर घटा, बहार में बहार... वम भोला कहकर शर्माजी ने एक लोटा चढ़ाई, ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े

लाट मिश्रो ने गंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट, लाट उडवर्न की मूर्ति खोली

पं० माधवप्रसाद मिश्र भारतीय संस्कृति के सतत् रक्षक होते हुए भी जोश तथा प्रगल्भता लिये हुए लेख लिखने वाले थे। साथ ही देशभक्ति का सरस अनुराग उनके अन्दर विद्यमान था। इनके लेख पर्व, त्योहार, उत्सव इत्यादि विषयों पर 'सुदर्शन' इत्यादि : निकलते थे।

पं० गोविन्दनारायण मिश्र बाण तथा दण्डी के अनुकरण प समास-अनुप्रासमिश्रित पदावली को ही अपनी शैली में उपस्थित क पाये। इनमें हम विचारों की उत्तेजना के ही दर्शन करते हैं, भाषा व शक्ति के नहीं।

स्वर्गीय बाबू श्यामसुन्दरदास हिन्दी-साहित्य के एक प्रतिभाशाल लेखक थे। उन्होंने सदैव नवीन विषयों पर अपनी लेखनी उठाई। हिन्दी के वर्तमान प्रचार तथा उत्थान के कारणस्वरूप काशी व नागरी-प्रचारिणी-सभा के संस्थापकों में से थे। हिन्दी प्रचार के साथ प्राचीन पुस्तकों की खोज, तथा साहित्य और भाषा-विज्ञा सम्बन्धी सामग्री एकत्र कर इन्होंने साहित्य-सेवियों के सामने साहित्य उपादान प्रस्तुत किये। 'भाषा विज्ञान' तथा काव्य के विभिन्न अंग का निरूपण करने वाले 'साहित्यालोचन' नामक ग्रन्थ के ये प्रणेता हुए जो हिन्दी में अपनी तरह की पहली पुस्तकें हैं। अतः इसके लिए उन्हें अपनी भाषा को तदनु रूप बनाना पड़ा और सर्वदा यह ध्यान रख पड़ा कि विषय का सरल एवं बोधगम्य भाषा में पूर्णरूप से निदर्श हो सके। साथ ही भावों की व्यंजना के क्रमिक विकास की ओर : इनका विशेष ध्यान रहा। साहित्य के ऊपर परिस्थितियों का क प्रभाव होता है, इसका पूर्ण दिग्दर्शन कराते हुए हिन्दी भाषा अ साहित्य का प्रतिपादन करने वाला 'हिन्दी भाषा और साहित्य' नाम ग्रन्थ इन्होंने लिखा। साथ ही 'हिन्दी-शब्द सागर' का सम्पादन कर अपने अदम्य साहस तथा पुरुषार्थ को प्रदर्शित किया।

भाषा भाव की निरूपिणी होती है, अतः गम्भीर विषयों पर लिखने के कारण आपकी भाषा भी स्वभावतः गम्भीर है। पर इसमें क्लिष्टता का पूर्ण परि त्याग और परिपुष्टता तथा सुबोधता के ही दर्शन होते हैं। इस भाँति इनकी शैली साधारणतः संगठित एवं सुव्यवस्थित ही है तथा इसमें धारावाहिक प्रभाव पाया जाता है। विदेशी शब्दों का भी समावेश इनकी भाषा में है, पर उनके विदेशीपन को निकालकर तथा उन्हें भारतीयता के साँचे में ढालकर ही, उन्हें स्वीकृत किया गया है। जटिल एवं दुर्बोध विषयों के निदर्शन के लिए छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग इनकी विशेषता है। अतः वर्तमान हिन्दी-साहित्य इन्हें सर्वदा प्रमुख अग्रता के रूप में ही स्वीकार करेगा।

समालोचना के क्षेत्र में भी द्विवेदी युग में भारतेन्दु युग की भट्ट तथा 'प्रेमघन' द्वारा प्रादुर्भूत गम्भीर साहित्य-समीक्षा को ही उचित स्थान प्राप्त हुआ। इस कार्य का भी सूत्रपात द्विवेदीजी ने ही किया और देव को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध करने वाले 'हिन्दी-नवरत्न' नामक समालोचनात्मक ग्रन्थ को मिश्र-बन्धुओं ने निकाला। इससे छलनात्मक समालोचना को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। पं० पद्मसिंह शर्मा ने देव को बिहारी से छोटा सिद्ध करते हुए एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक लिखी। पर इस युग में समालोचना उन्नति के अन्तिम शिखर तक न पहुँच सकी। पं० रामचन्द्र जी शुक्ल द्विवेदी युग के लेखक होते हुए भी विकास काल के श्रेष्ठ समालोचकों में अग्रगण्य हैं। इनके अतिरिक्त बाबू गुलाबराय जी भी एक अच्छे आलोचक तथा भावात्मक और विचारात्मक निबन्ध-लेखक हैं। आपने विकास-काल के अन्तर्गत भी साहित्य के गम्भीर विषयों पर निबन्ध तथा पुस्तकें लिखकर हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि की है।

द्विवेदी युग में ही हिन्दी भाषा और लिपि के प्राण-स्वरूप तथा अद्भुत कर्मठ नेता राजर्षि बाबू पुरुषोत्तमदास जी टण्डन, और उनके सहयोगी एवं पथ-प्रदर्शकों ने मिलकर 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन' को

जन्म दिया जिसकी परीक्षाओं के द्वारा अन्य विभाषी प्रान्तों में भी हिन्दी का प्रचार हुआ। इसी अपूर्व मनीषी के सतत उद्योग से ही हिन्दी आज राष्ट्रभाषा के उच्च पद पर आसीन है।

विकास युग (संवत् १६७५ से अब तक)

इस युग में लेखकों ने भाषा पर अपना पूर्ण अधिकार रखते हुए प्राचीन और नवीन साहित्य के स्वरूप को ठीक से परखकर हिन्दी-साहित्य को पुष्ट और प्रौढ़ किया। गद्य-साहित्य पाश्चात्य प्रभाव से अपने को वंचित न रख सका। अतः यूरोप में काल के अनुसार प्रादुर्भूत अनेक वादों की हिन्दी के लेखकों ने नकल की और उसे 'आधुनिकता' के वस्त्र से सुसज्जित करके साहित्य-क्षेत्र में लाये। पर ये प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपेण अनुवाद मात्र ही रह गए। यद्यपि यह वास्तविक साहित्य की प्रगति को नहीं रोक पाये, पर इनका आवरण तो उस पर कुछ समय के लिए अवश्य ही रहा। लोगों ने यूरोप की नकल तो की, पर उसे भारतीयता के साँचे में ढालने में कुछ ही लोग समर्थ रहे। टालस्टाय के 'प्रेम' तथा यूरोप के 'साम्यवाद' ने साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया, और इसकी स्पष्ट छाप हम गद्य-साहित्य पर पाते हैं। पर ऐसा नहीं है कि साहित्य में विदेशी प्रभाव के द्वारा मौलिकता नहीं रह पाई। हिन्दी के प्रसिद्ध प्रतिभाशाली तथा भारतीय समाज का सच्चा स्वरूप उपस्थित करने वाले बाबू प्रेमचन्द तथा सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले, तथा साहित्य को अपनी सूक्ष्म कल्पना द्वारा अमर सौन्दर्य की झाँकी दिखलाने वाले बाबू जयशंकर प्रसादजी इसी युग की देन हैं। इस युग में गद्य-लेखकों की बाढ़-सी आ गई, और उपन्यास, कहानी, आख्यायिका, नाटक, निबन्ध तथा समालोचना एवं काव्य-मीमांसा, सभी के द्वारा हिन्दी-साहित्य के अक्षय भण्डार को भरा गया।

कथा-साहित्य में सरसता एवं सजीवता का वेगयुक्त प्रवाह दर्शाने वाले बाबू प्रेमचन्द जी ने साहित्य में जन-समाज की मान्यताओं तथा

समस्याओं का स्पष्ट चित्र अंकित किया। यह उपन्यास तथा कहानी के क्षेत्र में एक नूतन विकास लेकर अवतरित हुए थे। द्विवेदी युग की भाँति दैवीघटनाओं का विशेष उल्लेख न करके पात्रों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा मानसिक घात-प्रतिघात की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इस नवीन प्रणाली का सूत्रपात हिन्दी उपन्यास साहित्य में 'बंगला' तथा 'अंग्रेजी' के प्रभाव से ही हुआ।

श्री प्रेमचन्द—इनका जन्म संवत् १९३७ में काशी के पास ही लमही नामक ग्राम में हुआ था और मृत्यु सं० १९६३ में हुई। इनका असली नाम श्री धनपतराय श्रीवास्तव था। इन्होंने उर्दू तथा फारसी इत्यादि का अध्ययन किया था, अतः प्रारम्भ में इन्होंने उर्दू में ही लिखना आरम्भ किया था, पर बाद में इन्होंने हिन्दी जगत् में प्रवेश किया। इस समय भारतीय जनता ब्रिटिश साम्राज्यशाही के कल-पुर्जे, जमोदार, साहूकार, पुलिस, वकील इत्यादि से घोर रूप से शोषित थी। अतः इस सफल उपन्यासकार तथा कहानी-लेखक ने इन समस्त समस्याओं तथा उलझनों का स्पष्ट चित्र अंकित करते हुए समाज का वास्तविक स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत किया। समाज को कोई कल्पना की वस्तु न मानकर, उसे वैचित्र्य तथा विभिन्नता से पूर्ण जीवित समुदाय ही समझकर, इसे अपने उपन्यासों द्वारा इन्होंने स्पष्ट झलकाया। प्रेमचन्दजी ने समाज की गतिविधि का भली भाँति अध्ययन करके उसके प्रत्येक पात्र की गति तथा स्पन्दन का भी अपनी लेखनी द्वारा पाठकों को इसका परिचय कराया। सामयिक आन्दोलन से प्रभावित होकर राष्ट्रीयता की भी छाप इन पर पड़ी और 'राष्ट्र-धर्म' को इन्होंने मनुष्य-धर्म के रूप में ग्रहण किया, और इसी राष्ट्रीयता में अपने को रँगा। इनकी रचनाओं में आशावाद के भी दर्शन होते हैं, और इनसे उत्साह, तथा उत्कट उद्योग की स्पष्ट झंकार आती है। ये सामाजिक क्रान्ति की भावनाओं से ओत-प्रोत हैं।

इनके उपन्यासों में निम्न और मध्यम श्रेणी के लोगों के जीवन

का सच्चा स्वरूप अंकित है, और इनके चित्रण में इतनी स्वाभाविकता झलकती है कि ऐसा प्रतीत होता है कि पाठक भी वर्णित पात्र की भाँति किसी पुरुष के सम्पर्क में आया है। इनसे यह स्पष्ट होता है कि जिस ग्रामीण जनता को उच्च-वर्ग के लोग अशिक्षित, जाहिल तथा असभ्य इत्यादि विशेषणों से विभूषित करते हैं, उनमें शहर वालों की अपेक्षा अधिक आत्म-बल तथा न्यायप्रियता है। इनका विश्वास मनुष्य की सद्वृत्तियों में ही था, उसके बाहरी टीम-टाम में नहीं। आपके उपन्यासों को पढ़कर भारतीय ग्रामीण जीवन तथा सामाजिक आर्थिक एवं तात्कालिक राजनीतिक समस्याएँ आँखों के सामने नाचने लगती हैं। आपके सभी पात्र भारतीय जनता के भिन्न-भिन्न वर्गों एवं दलों के प्रतिनिधि हैं।

पात्रों के हृदयोद्गार होने से आपकी भाषा उपमा तथा उत्प्रेक्षा से युक्त, स्वाभाविक उच्छ्वास तथा प्रगति एवं प्रवाह को ही लेकर चली है। पात्रों की मनःस्थितियों के दिग्दर्शन से भाषा प्राणस्पर्शिनी है, और इसमें सुन्दर कवित्वपूर्ण व्यञ्जना का भी उचित समावेश है। यद्यपि इनके वाक्य छोटे-छोटे हैं, पर इनमें सादगी विद्यमान है और इनकी सूक्तियाँ जीवन के अनुभवों की खमीर हैं। इन्होंने तीव्र व्यंग न करके मीठी चुटकियों का ही प्रयोग किया है। इनके उपन्यासों में 'सेवा-सदन', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'गोदान', इत्यादि मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। ये हिन्दी के एक तपस्वी कलाकार थे।

इनके पश्चात् हिन्दी-साहित्य में उपन्यासों की धूम-सी मच गई। एक नवीन युग के स्रष्टा श्री जयशंकर प्रसाद जी ने समाज के बन्धनों के विरुद्ध 'कंकाल' और 'तितली', बाबू वृन्दावनलाल वर्मा ने 'गढ़ कुण्डार', 'घिराटा की पन्नी' आदि ऐतिहासिक उपन्यास, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'जय यौधेय' और 'सिंह सेनापति' नामक उपन्यास, मनुष्य के रागात्मक सम्बन्ध की मार्मिकता को व्यक्त करने वाले श्री विश्वम्भरनाथ कौशिक ने 'माँ' तथा 'भिखारिणी', श्री प्रतापनारायण

श्रीवास्तव ने 'विदा' तथा अन्तर्वृत्तियों का दिग्दर्शन कराने वाले जैनेन्द्र-कुमार ने 'तपोभूमि' नामक उपन्यास को लिखकर उपन्यास-साहित्य की वृद्धि की। इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में श्री चतुरसेन शास्त्री, राजा-राधिकारमणप्रसादसिंह, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', सुदर्शन, 'नागा-जुन', यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'श्रक', पाप और पुण्य की मीमांसा करने वाले चित्रलेखा नामक उपन्यास के रचयिता बाबू भगवतीचरण वर्मा, पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भगवतीप्रसाद वाजपेयी तथा इलाचन्द्र जोशी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। घटना-वैचित्र्य-प्रधान जासूसी उपन्यास भी इस युग में अधिक लिखे गए। पर इन आधुनिक उपन्यासों में कुछ दोष भी हैं। इनमें सरसता और प्रेम इत्यादि का भरपूर वर्णन नहीं है, साथ ही महत्त्वपूर्ण स्थलों की ओर सूक्ष्म दृष्टिपात नहीं किया गया है, जिससे सानुपात बोध स्पष्ट परिलक्षित होता है।

'सरस्वती' आदि पत्रिकाओं का कहानी-साहित्य पर विशेष प्रभाव पड़ा, और प्रेमचन्द तथा प्रसाद जी के अतिरिक्त श्री विश्वम्भरनाथ कौशिक, चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', श्री सुदर्शन, निराला आदि प्रसिद्ध कहानी-लेखक हुए। भारतीय कला के अत्यन्त समर्थक रायकृष्णदास ने रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रंग लिये हुए, रवीन्द्र बाबू के प्रभाव से जिस भावात्मक गद्य का आविर्भाव किया, उसमें कहानियों में यह एक विशेष शैली के प्रतिनिधि हुए और यह गद्य-गीतों को उपस्थित कर पाए। छोटी आख्यायिकाओं की तो आधुनिक युग में बाढ़-सी आ गई और 'सजना', 'मनोहर कहानियाँ' आदि कितनी मासिक कहानी-पत्रिकाएँ ही निकलने लगीं। पर इनमें से अधिकांश ने भारतीय जीवन से पूर्णतया हटकर यूरोप के साँचे में ढले हुए देश के एक छोटे से वर्ग का चित्राङ्कन किया है, जिससे मिस्टर, मिस, होस्टल-क्लब इत्यादि का ही वर्णन हो पाया है। पर यह वर्ग-सामान्य जन-समाज का द्योतक तो नहीं है।

बाबू जयशंकरप्रसाद ने अपनी बौद्धिक चेतना तथा दार्शनिकता

से हिन्दी-नाटकों में नव जीवन डाल दिया। चरित्र-चित्रण, शैली, कथोपकथन आदि नाटकीय तत्वों की दृष्टि से भी इनके नाटक सर्वोत्कृष्ट हैं। इनमें 'अजातशत्रु', 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त', 'विशाखदत्त', 'ध्रुव-स्वामिनी', 'जन्मेजय का नागयज्ञ' तथा 'कामना' इत्यादि प्रसिद्ध हैं। इन्होंने नाट्य-शास्त्र के नियमों की अवहेलना की है, और प्राचीन परिपाटी को छोड़कर एक नवीन ढंग से नाट्य-रचना की है। इनके अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं, जो गम्भीरता तथा दार्शनिकता से भरे हुए हैं। पर इनमें क्लिष्ट विषयों का ही प्रतिपादन किया गया है, और कलामय होते हुए भी ये रंगमंच के योग्य नहीं हैं, एवं ऐसा ज्ञात होता है कि नाटक की परिभाषा दृश्य न होकर श्रव्य ही रह गई है। इनके पश्चात् नाट्य-क्षेत्र में पं० बद्रीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द', पं० गोविन्दवल्लभ पन्त, चतुरसेन शास्त्री तथा उदयशंकर भट्ट आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। सेठ गोविन्ददास का भी आधुनिक नाटककारों में एक प्रमुख स्थान है और इनमें वर्तमान राजनीतिक आन्दोलनों का अच्छा अंकन है। पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिन्दूर की होली', 'राजयोग', 'सन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर' आदि सामाजिक समस्याओं का निरूपण करने वाले नाटक, यथातथ्यवाद का भी पूर्ण दर्शन कराते हैं, तथा मानव-समाज का इनमें वास्तविक रूप में अंकन किया गया है। इनके अतिरिक्त हिन्दी में हास्य-रस-प्रधान कुछ प्रहसनों की भी रचना हुई। अब हिन्दी में एकांकी नाटकों का जार बढ़ता जा रहा है, जिनमें डॉ० रामकुमार वर्मा तथा भुवनेश्वर प्रसाद आदि मुख्य हैं। ये रंगमंच के उपयुक्त हैं। मौलिक नाटकों के अतिरिक्त संस्कृत के पुराने नाटकों का भी हिन्दी में अनुवाद हुआ। श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी भी आधुनिक युग के एक सफल नाटककार हैं।

इस काल में निबन्ध-साहित्य की भी बड़ी उन्नति हुई, और कथात्मक, वर्णनात्मक तथा चिन्तनात्मक आदि अनेक प्रकार के निबन्ध लिखे गए। यद्यपि इन निबन्धों में शैली, भाषा तथा विचारों का पूर्ण

विकास दिखाई पड़ता है, फिर भी भारतेन्दु-युग की निबन्धों की सामाजिक स्वाभाविकता का अभाव-सा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-जैसे निबन्ध-लेखक ने अपने गम्भीर निबन्धों द्वारा इस युग की निबन्ध-रचना का प्रवर्तन किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—इनका जन्म संवत् १९४१ में उत्तर-प्रदेश के बस्ती जिले के अंगोना नामक ग्राम में हुआ था। शिक्षा केवल 'इंटर' तक ही हुई थी, पर अपनी योग्यता एवं प्रतिभा के कारण मिर्जा-पुर के मिशन अध्यापक के पद से हिन्दू विश्वविद्यालय काशी के प्राध्यापक बने। अपनी प्रतिभा का अलौकिक परिचय प्रदान करके इनकी इहलीला संवत् २००० में समाप्त हुई। यह निबन्ध तथा समालोचना लेखक के साथ साथ कवि भी थे और अंग्रेजी के Light of Asia का आधार लेकर इन्होंने पद्य में 'बुद्ध-चरित' लिखा, जो उन्हें भावुक तथा प्रकृति-सौन्दर्य का अनन्य अनुरागी ही सिद्ध करता है। इन्होंने 'श्रद्धा-भक्ति', 'लज्जा', 'ग्लानि', 'क्रोध', 'कविता क्या है' इत्यादि ऐसे गम्भीर विषयों पर अपने निबन्ध लिखे हैं, तथा इनके निबन्धों का संग्रह 'चिन्तामणि' के नाम से दो भागों में प्रकाशित हुआ है, जिस पर इन्हें प्रसिद्ध 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त हुआ है।

इनके लेखों में हमें प्रकृति-प्रेम, शील, शक्ति और सौन्दर्य के सामंजस्य की आदर्शप्रियता, सगुणोपासना में श्रद्धा, सहृदयता और भावुकता, शिष्टवादिता, भारतीयता तथा मर्यादा और प्रबन्धप्रियता के दर्शन होते हैं। यह 'शैली स्वयं लेखक का स्वरूप है' इसके एक उदाहरण-स्वरूप हैं। अतः गम्भीर एवं विचारशील प्रवृत्ति के अनुकूल इनकी शैली भी समासप्रिय तथा गम्भीर है। अर्थ-परम्परा से युक्त इनके वाक्य गठे रहते हैं। पर इनमें भावात्मक विवेचना के साथ-साथ प्रसंगवश व्यंग्यात्मक छींटों के भी दर्शन होते हैं जैसे—

विहारी की नायिका की दशा घड़ी के पेंडुलम की-सी है।

इनकी आलोच्य-विषयों की प्रतिपादन-शैली रेखागणित की भाँति

दुरुह है, जिसमें छोटी-से-छोटी बात का विश्लेषण करके उसे दूर ले जाने का प्रयत्न किया गया है। अतः इनकी शैली कहीं विश्लेषणात्मक है तो कहीं व्याख्यात्मक।

शैली की भाँति भाषा भी भावों के अनुकूल ही है और यह संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ और विशुद्ध है, तथा समास-शैली के कारण इसमें ह्रिष्ट आ गई है। पर इसके साथ-ही-साथ अलंकारिता और प्रसंगानुकूल विषयों का व्यंग्यात्मक प्रतिपादन—इन दोनों के भी इसमें दर्शन होते हैं। निबन्ध-लेखक के अतिरिक्त यह एक सुप्रसिद्ध समालोचक भी है। जो कुछ आपने लिखा है, वह गम्भीर मनन तथा अध्ययन के पश्चात् ही आपकी लेखनी से निःसृत हुआ है। अतः आप समालोचना-साहित्य की विश्लेषणात्मक परिपुष्ट एवं व्यापक परिपाटी के प्रवर्तक भी हैं। आपकी जायसी, सूर और तुलसी पर लिखी हुई गम्भीर समीक्षाएँ अत्यन्त उच्चकोटि की हैं। आप लेखक ही नहीं एक अच्छे अनुवादक भी हैं। हिन्दी-साहित्य में भावुक, विवेचक तथा निर्णायक, इन्हीं त्रिगुणात्मक रूपों में इन्होंने प्रवेश किया है। इस तरह इन्होंने सर्वोत्कृष्ट गद्य की उद्भावना की है और इनका समस्त साहित्य प्रौढ़ मस्तिष्क के लिए ही उपयुक्त है। अतः यह आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ निबन्ध-लेखक एवं आलोचना-साहित्य के उन्नायक हैं।

शुक्लजी के अतिरिक्त आधुनिक युग के निबन्ध-लेखकों में श्री पदुमलाल पुत्रालाल बरुशी, पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री माखनलाल चतुर्वेदी, पं० पद्ममिह शर्मा, बाबू गुलाबराय, पं० सदगुरुशरण अवस्थी, नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शान्तिप्रेम द्विवेदी तथा बाबू सम्पूर्णानन्द आदि हैं। महाराज कुमार, डॉ० रघुवीरसिंह ने भी अपने निबन्धों द्वारा अतीत की चित्रमयी भावनाओं को व्यक्त किया है।

आलोचना साहित्य और इसके विकास के क्षेत्र में तुलनात्मक आलोचना ने प्रवेश किया और यह केवल गुण-दोषों का विवेचन-मात्र न रहकर, अध्ययन तथा खोज से प्रारम्भ हुई। किसी भी व्यक्ति पर

परिस्थितियों का क्या प्रभाव होता है, और ये किस भाँति उसकी चित्त-वृत्तियों को प्रेरित करती हैं, इसका भी समालोचना में उचित समावेश हुआ, और इस तरह मनोवैज्ञानिक समालोचना का सूत्रपात हुआ। आचार्य शुक्ल ने संस्कृत तथा अंग्रेजी के आलोचना-साहित्य का खूब मनन करके दोनों के सामंजस्य द्वारा मनोवैज्ञानिक समालोचना की हिन्दी में नींव डाली। शुक्लजी के साथ ही-साथ खोजपूर्ण आलोचनात्मक गद्य लिखने वाले बाबू श्यामसुन्दरदासजी का नाम आता है। पदुमलाल पुत्रालाल बख्शी ने भी समालोचना का शास्त्रीय पद्धति से विवेचन किया है। और प्रसिद्ध समालोचकों में नगेन्द्र, गंगाप्रसाद सिंह, डॉ० रामकुमार वर्मा, श्री सत्येन्द्र, श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ० बलदेव-प्रसाद भिन, डा० सूर्यकान्त, नलिनीमोहन सान्याल, बाबू गुलाबराय, पं० परशुराम चतुर्वेदी, चन्द्रवर्ली पांडेय, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि हैं। प्रगतिवादी आलोचकों में डॉ० रामविलास शर्मा, प्रकाशचन्द्र गुप्त प्रभाकर माचवे आदि के नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। आलोचना के साथ-ही-साथ रस-अलंकार आदि का निरूपण भी इस युग में हुआ, जिनमें सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, बाबू गुलाबराय, डॉ० रमाशंकर शुक्ल, रसाल तथा हरिशंकर शर्मा आदि प्रमुख निरूपणकर्ता हैं। आलोचना के क्षेत्र में कवि की 'कला' तथा 'साधना' की अपूर्व अभिव्यंजना हुई और इस विषय में बहुत सी पुस्तकें लिखी गईं। इस तरह निर्णयात्मक तथा व्याख्यात्मक, दोनों की समालोचनाओं ने आलोचना के क्षेत्र में प्रवेश किया, जिससे कवि तथा लेखक दोनों की वाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों दशाओं का पूर्ण परिचय प्राप्त हुआ।

आजकल का गद्य प्रगतिवाद तथा मार्क्सवाद के झण्डे के नीचे अपनी विकासधारा को लिये हुए चल रहा है, और गद्य के प्रत्येक क्षेत्र में ये ही सामाजिक तथा साम्यवादी भावनाएँ व्यक्त होती हैं। साथ ही देश की आर्थिक दशा ने भी इसमें अपना हाथ बँटाया है। अतः गद्य से सामाजिक तथा आर्थिक सुधार की स्पष्ट झलक आती है। ऐसे

लेखकों में सर्वश्री महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, यशपाल, 'अज्ञेय,' पहाड़ी, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अमृतलाल नागर, रामवृक्ष बेनीपुरी तथा बनारसीदास चतुर्वेदी आदि प्रसिद्ध हैं।

आधुनिक युग में हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं की भी संख्या बढ़ी है। त्रैमासिकों में 'विश्व-भारती', मासिकों में 'कल्याण', 'माधुरी', 'विशाल भारत', 'विश्वमित्र', 'हंस', 'सरस्वती', 'हिन्दुस्तानी', 'साहित्य-सन्देश', साप्ताहिक पत्रों में 'आकाशवाणी', 'पाटलिपुत्र', 'कर्मवीर', 'पांचजन्य', 'जागृति', 'दरबार', 'देशदूत', 'अशोक', 'आर्यमित्र', 'पुकार', 'मजदूर', 'युगवाणी', 'युगान्तर', 'राष्ट्रपताका', 'लोकमत', 'सन्मार्ग', 'हरिजन-सेवक' आदि तथा दैनिक पत्रों में 'हिन्दुस्तान', 'अमरभारत', 'विश्वमित्र', 'नवजीवन', 'स्वतन्त्र-भारत', 'आज', 'संसार', 'प्रताप', 'स्वदेश', 'भारत' तथा 'अमृतपत्रिका' आदि पत्रों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बालोपयोगी पत्र तथा पत्रिकाओं की भी भरमार है और इनमें 'बालक', 'होनहार', 'बालसखा', 'दीदी', 'शिशु' तथा 'खिलौना' आदि प्रमुख हैं। बम्बई से 'धर्मयुग' नामक साप्ताहिक पत्र निकलता है जिसमें चित्रों तथा पहेलियों की भरमार-सी रहती है।

इस तरह आज का हिन्दी का गद्य-साहित्य अपनी अनेक शाखाओं द्वारा विकसित हो रहा है। हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने से परिभाषा-कोषों का भी निर्माण हुआ है तथा जारी है। इस कार्य में देश की उच्च संस्थाओं, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान् पुरुष, तथा देश की केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों ने हाथ बँटाया है। अब आवश्यकता इस वस्तु की है कि हिन्दी-गद्य को उच्चकोटि के गम्भीर तथा अनुसन्धानपूर्ण व वैज्ञानिक विषयों से भरा जाय और उन विषयों पर गहन पुस्तकें लिखी जायँ जिनकी इस भाषा में कमी है। इस दिशा में भी लोगों का ध्यान गया है और भविष्य में देश के उत्थान के साथ ही इस विषय की भी पूर्ति हो जायगी।

आधुनिक-काल (पद्य)

रीतिकाल में कविता का जो प्रवाह चिन्तामणि तथा देव और बिहारी आदि ने बहाया था वह आगे चलकर क्षीणप्राय होने लगा, क्योंकि उसमें हृदय की सच्ची अनुभूति नहीं थी। कवि रीति के संकीर्ण दायरे में ही विचरण करते हुए कविता के वास्तविक लक्ष्य को भूल गए थे, और उनकी कविता में यह विशेषता न रह पाई कि वे पाठक के मार्मिक अन्तस्तल पर एक स्थायी प्रभाव स्थापित कर सकें। कविता में अश्लील शृङ्गार का पुट, अनुप्रासों की भरमार तथा समस्या-पूर्ति की ही अभिरुचि के दर्शन हुए, और काव्य में निम्नकोटि के साहित्य का ही समावेश हुआ। लोगों ने हिन्दी-कविता को मनोरंजन तथा चमत्कार प्रदर्शन का साधन-सा बना लिया था।

ऐसी ही साहित्यिक परिस्थिति में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई। कुछ लोग तो आधुनिक काल की कविता के परिवर्तन तथा गद्य के आविर्भाव को केवल अंग्रेजों की देन-मात्र ही समझते हैं। पर यह यथार्थ नहीं है। जब विजेता विजित राष्ट्र पर अपनी सत्ता स्थापित कर लेता है तो वह उस राष्ट्र में अपनी सभ्यता तथा साहित्य का भी प्रचार करना प्रारम्भ करता है, और उन्हें विजित राष्ट्र के साहित्य से श्रेष्ठ तथा उच्च भी समझता है। अतः प्रकृति के नियमानुसार अपने अतीत के गौरव का स्मरण कर बदला लेने की भावना से विजित राष्ट्र में एक नई चेतना आती है, और साहित्यिक, सामाजिक तथा राजनीतिक—सभी परिस्थितियों में परिवर्तन और क्रान्ति उपस्थित होती है। अतः मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हलचल का ही समागम होता है। ऐसा ही भारतवर्ष में भी हुआ। यहाँ की भी जनता को जब यह परिज्ञान हो

गया, कि अंग्रेज केवल राजनीतिक प्रभुत्व को ही पाकर सन्तुष्ट नहीं हैं, प्रत्युत् वे सांस्कृतिक विजय के लिए भी उद्योगशील हैं, तो वह नागिन की तरह फुंकार उठी, और उसी राष्ट्रीय व्यथा के वाह्य रूप को प्रकट करते हुए संवत् १९१४ (सन् १८५७) का प्रथम स्वातन्त्र्य-समर हुआ, जिसमें अंग्रेजी सत्ता को समाप्त करने का स्मरणीय प्रयत्न किया गया। पर शक्ति के पूर्ण हासोन्मुख होने से सफलता नहीं मिली, और जनता ने सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आन्दोलनों से अपना पुनरुत्थान करना प्रारम्भ कर दिया। देश-प्रेम तथा देश-भक्ति की भावना जाग उठी, और साहित्य, जो जनता की चित्त-वृत्तियों का संचित प्रतिबिम्ब-मात्र होता है, पीछे न रहा और इन समस्याओं के समाधान को लेकर आगे आया। भारतीय भाषाएँ, जो भारतीय संस्कृति की मूल आधार हैं, उनका शिक्षा-पद्धति तथा शासन-प्रणाली से पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया था और राज्य-भाषा के नाम पर 'अंग्रेजी' और जन-भाषा के नाम पर 'हिन्दुस्तानी' नाम प्रदान करके उदूर और फारसी प्रचारित हो रही थीं। ऐसी ही परिस्थितियों में आधुनिक युग का पदार्पण हुआ। रीति-कालीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ समाप्त हुईं और कविता ने एक नवीन मार्ग का अनुसरण किया। वह आधुनिक युग के प्रथम प्रभात भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-प्रवर्तित संस्कार-युग, और छायावाद तथा रहस्यवाद की परिधि से होती हुई, प्रगतिवाद तथा साम्यवाद की ओर अग्रसर हुई। खड़ी बोली का पद्य में भी समावेश हुआ, और कविता भूत और भविष्य का ध्यान रखते हुए, मानव के वर्तमान जीवन की व्यंजना की ओर भी मुड़ी।

पर आधुनिक काल की प्रारम्भिक अवस्था में रीति-काल द्वारा प्रभावित ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा ही चली, और रीति तथा भक्ति से प्रभावित होकर कवियों ने ब्रजभाषा में कविता की। इनमें सेवक, महाराज रघुराजसिंह, सरदार, ललित किशोरी तथा नवनीत चौबे के नाम उल्लेखनीय हैं। हिन्दी-गद्य के प्रसिद्ध प्रवर्तक राजा लक्ष्मणसिंह ने मिठास-

युक्त ब्रजभाषा के पद्य, 'शकुन्तला' तथा 'मेघदूत' आदि के अनुवाद लिखे। इनके अतिरिक्त खड़ी बोली में कविता के आविर्भावक श्रीधर पाठक ने भी ब्रजभाषा में ही अधिक सरस मर्म-स्पर्शी तथा हृदय ग्राहिणी कविता की। यूरोप में जिस स्वच्छन्दतावाद की लहर बही थी, उसे हिन्दी-साहित्य में लेकर पाठक जी ही अवतरित हुए थे। इन्होंने खड़ी बोली में लावनी की लय पर 'एकान्तवासी योगी' लिखा। इनकी दूसरी पुस्तक 'श्रान्त पथिक' है। 'ऊजड़ ग्राम' ब्रजभाषा में ही लिखी गई है। ये पुस्तकें अंग्रेजी से अनूदित हैं। इनका प्रकृति-वर्णन, असाधारण और स्वानुभूत है। यह एक प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, और अंग्रेजी तथा संस्कृत-साहित्य का इन्हें अच्छा परिचय था। अतः पद-विन्यास, वाक्य-विन्यास आदि सभी परिष्कृत और सुन्दर हुए हैं। इस युग में बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर ने शुद्ध ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी को ही अपनाया, और ब्रजभाषा के पुराने कवियों की टक्कर की कविता को प्रस्तुत किया।

जगन्नाथदास रत्नाकर—इनका जन्म संवत् १९२३ में काशी में हुआ, तथा सं० १९८९ में हरिद्वार में यह परलोक सिधारे। इनके पिता बाबू पुरुषोत्तमदास जी अग्रवाल विद्याविनोदी तथा काव्य-रसिक थे, और उनके यहाँ विद्वानों और कवियों का आना-जाना हुआ करता था। वहीं यह भारतेन्दु जी की गोष्ठी के सम्पर्क में आये। काशी से बी० ए० की उपाधि प्राप्त करने के बाद इन्होंने अवागढ़ राज्य में नौकरी कर ली, पर बाद में हिन्दी के अनन्य भक्त अयोध्या-नरेश, सर प्रताप-नारायणसिंह के प्राइवेट सेक्रेटरी हुए। महाराज की मृत्यु के बाद महारानी ने भी इन्हें इसी पद पर रखा।

रत्नाकर जी प्राचीनता के उपासक और अंग्रेजी की ऊँची शिक्षा मिलने पर भी भारतीय संस्कृति के भक्त थे। यह स्वभाव के कोमल और हृदय के सरल थे। स्मरण-शक्ति इतनी तीव्र थी कि प्राचीन कवियों के अनेक पद समय-समय पर कहा करते थे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के संस्थापकों में इनका भी स्थान है। 'सरस्वती' के प्रकाशन के समय

सम्पादकों में इनका भी नाम आया था। 'उद्धवशतक' और 'गंगा-वतरण' इन प्रसिद्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने 'हिरण्डोला', 'हरिश्चन्द्र', 'समालोचनादर्श', 'साहित्य-रत्नाकर', 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर', 'अष्ट रत्नाकर' तथा शृंगार-लहरी' आदि की रचना की। साथ ही 'बिहारी सतसई', 'हिततरंगिणी' आदि प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन करके उनकी टीकाएँ भी प्रस्तुत कीं। सूरसागर का महत्त्वपूर्ण सम्पादन भी प्रारम्भ किया था, पर वह अधूरा ही रह गया।

विशुद्ध ब्रज इनकी कविता की भाषा है। भाषा का स्वाभाविक प्रवाह और शब्दों की रोचक ध्वनि, इनकी भाषा की विशेषताएँ हैं। इनकी रचनाएँ स्वाभाविक, प्रसाद गुणपूर्ण, श्रुतिमधुर और मार्मिक हैं। इन्हें कवि-हृदय मिला था। कवित्व के चमत्कार के साथ-साथ साहित्य-शास्त्र के नियमों का भी निर्वाह इन्होंने पूरी तरह किया है। इनकी कविता में लालित्य, ओज तथा माधुर्य गुण भी विद्यमान हैं। शृङ्गार-रस के वर्णन में यह निपुण थे, और 'उद्धवशतक' का उपालम्भ और व्यंग सूर की कोटि में जा बैठा है। खड़ी बोली के उन्नति के युग में ब्रज-भाषा की श्रेष्ठता को रत्नाकर ने सिद्ध कर दिया। प्रकृति-वर्णन में भी इन्होंने अनेक मनोरम स्थलों की सृष्टि की है। 'हिन्दी-साहित्य सम्मेलन' ने इन्हें सभापति के पद से विभूषित किया था।

ब्रजभाषा की इस अखण्ड परम्परा में रसिक परिपाटी के समर्थक तथा ललित पदावली वाले, राय देवीप्रसाद पूर्ण आये, जिन्होंने 'रसिक वाटिका' नामक पत्रिका निकाली। ब्रजभाषा और ब्रजपति के अनन्य उपासक, तथा 'प्रेम-शतक', 'प्रेम-पथिक' और 'वीर-सतसई' के रचयिता एवं राजनीतिक आन्दोलन में अभिरुचि रखने वाले श्री वियोगीहरि जी ने भी इसी धारा को अपनाया। आगे चलकर श्री दुलारेलाल भार्गव ने बिहारी के अनुकरण पर अपनी 'दुलारे दोहावली' लिखी। ब्रजभाषा की यह परम्परा अभी भी अखण्डित ही है, और कवि-सम्मेलनों में इसके दर्शन हो जाते हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने गद्यधारा की भाँति कविता को भी एक नये मार्ग पर चलाया। यह अटूट धारा पुरानी लकीर पर न चलती हुई देश-भक्ति, लोक-हित, समाज-सुधार तथा मातृभाषा, आदि के उद्धार की भावना से अनुप्राणित होकर ही चली। इसमें देश-दशा की मार्मिक व्यंजना, अतीत गौरवगाथा, वर्तमान निम्नगति, तथा भविष्य की चिन्ता इत्यादि का मनोरम पुट है। अतः यह हिन्दी-कविता के प्रथम उत्थान के नायक थे। पर इसका यह तात्पर्य बिलकुल ही नहीं कि इन्होंने पुरानी परिपाटी को छोड़ ही दिया था। एक ओर तो हिन्दी-कविता को इन्होंने नवीन गति प्रदान की और दूसरी ओर कविता की पुरानी परिपाटी 'ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा' के साथ भी इनका अटूट सम्बन्ध रहा। काव्य की ब्रजभाषा का भी उचित परिष्कार इन्होंने किया, तथा सर्वत्र बोलचाल की ब्रजभाषा को ही यह व्यवहार में लाये। शृङ्गार-रस से ओत-प्रोत तथा राधाकृष्ण के प्रेम से अनुप्राणित इनके कवित्त तथा सवैया बड़े ही सरस और मर्म-स्पर्शी हैं। इन्होंने कई रसिक समाजों की स्थापना भी की थी। इन्हीं की तरह परिण्डत प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहनसिंह, परिण्डत अम्बिकादत्त व्यास तथा रामकृष्ण वर्मा आदि थे, जिन्होंने समस्या-पूर्ति, पुराने ढंग की शृङ्गारी कविता, सर्वसाधारण में प्रचलित कजली तथा होली इत्यादि के गेय पद, तथा कवित्त और सवैया लिखे। इन्हीं के अनुकरण पर लाला सीताराम तथा परिण्डत अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि ने प्रारम्भ में ब्रजभाषा को ही अपनाया था। पर पुरानी परिपाटी से अटूट सम्बन्ध रखते हुए भी भारतेन्दु-मण्डली के ये लेखक हिन्दी कविता की नवीन धारा के प्रथम उत्थान में आये। विषयों की अनैक-रूपता के साथ-साथ इन्होंने उनके विधान में भी परिवर्तन किये। प्रतापनारायण मिश्र ने पद्यात्मक निबन्धों की रचना की और कुछ इतिवृत्तात्मक पद्य भी लिखे। प्रेमघन ने विशेष अवसरों को अपनाकर अपने पदों की रचना की। ठाकुर जगमोहनसिंह ने संस्कृत के प्राचीन

कवियों की प्रणाली को अपनाकर, प्रकृति का सूक्ष्म-निरीक्षक काव्य को हिन्दी को प्रदान किया। इस तरह हम देखते हैं कि भारतेन्दु-काल में हिन्दी-कविता एक नई दिशा की ओर मुड़ी।

भारतेन्दुजी के पश्चात् लोगों में कविता की भाषा के सम्बन्ध में अनेक तरह के विचार उठने लगे। गद्य खड़ी बोली में लिखा जाय, और कविता ब्रजभाषा में—यह बात लोगों को खटकने लगी। खड़ी बोली की पद्य-रचना कोई नवीन वस्तु नहीं थी, और नामदेव तथा कबीर की रचनाओं में भी इसका स्वरूप विद्यमान था। इंशा ने भी कुछ पद्य खड़ी बोली में लिखे थे। इसके पश्चात् खड़ी बोली में पद्य-रचना के लिए एक आन्दोलन ही खड़ा हो गया, और बाबू अयोध्याप्रसाद स्वामी इसके अग्रणी बनकर आये। यह तो इतना ब्रह्मे कि ब्रजभाषा की कविता को हिन्दी-भाषा की कविता मानने में भी नहीं तैयार होते थे। ऐसे ही समय में पं० श्रीधर पाठक समाज-सुधार, विधवाओं की वेदना तथा स्वच्छन्दतावाद को लेकर खड़ी बोली के कविता-क्षेत्र में आये, और खड़ी बोली को हिन्दी के प्रचलित छन्दों में इन्होंने ढाला। अपनी रुचि के अनुसार इन्होंने कई नवीन छन्दों की रचना भी की। ऐसी ही परिस्थिति में द्विवेदी-प्रवर्तित संस्कार-युग ने हिन्दी-प्राङ्गण में प्रवेश किया, और खड़ी बोली ने कविता को भी अपने झण्डे के नीचे किया। आचार्य द्विवेदी गद्य की भाँति पद्य रचना की भी एक नवीन प्रणाली के प्रवर्तक हुए।

महावीरप्रसाद द्विवेदी के पद्य-क्षेत्र में अवतरण से हिन्दी कविता में एक नई प्रेरणा तथा चेतना का अभ्युदय हुआ। इनके पहले कवियों का जो भाषा अव्यवस्थित थी, वह परिष्कृत हो गई। 'सरस्वती' में छपने के लिए आई हुई कविताओं को काट-छाँटकर खड़ी बोली को कविता के योग्य इन्होंने बना दिया, साथ ही ब्रज तथा अवधी के मेल को दूर करके शुद्ध खड़ी बोली को कविता के उपयुक्त बनाया। मराठी-साहित्य का उचित प्रभाव होने से हिन्दी-कविता में संस्कृत-वृत्तों का व्यवहार तथा गद्य के सदृश पद-विन्यास इन्होंने उपस्थित किये। परन्तु

बंगला की कोमलकान्त पदावली, इनकी कविता में न आ पाई, और मराठी की कर्कशता का ही प्रवेश रहा। प्रारम्भ में इन्होंने ब्रजभाषा में भी कविता लिखी थी। इनका ध्यान सर्वदा इसी ओर रहता था कि कविता की भाषा कठिन न होकर व्यावहारिक ही हो। अतः इनकी भाषा गद्यवत् हो गई, और कविता केवल इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) ही रह गई, तथा उसमें कवित्व की वास्तविक रमणीयता का उचित समावेश नहीं हो पाया। कल्पना तथा सांकेतिकता, जो कविता के प्राण-स्वरूप हैं, दोनों का लोप हो गया। यही इतिवृत्तात्मकता आगे चलकर 'छायावाद' को जन्म देने वाली हुई। इस युग के प्रारम्भिक वर्षों में कविता प्रधानतया वर्णनात्मक तथा कथा-प्रधान ही रही। द्विवेदीजी के अनुयायियों में आगे चलकर अनेक विद्वान्, जिनमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा पं० रामचरित उपाध्याय आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। द्विवेदीजी की कविता का उदाहरण नीचे दिया जाता है —

सुरम्यरूपे, रसराशिरंजिते, विचित्रवर्णाभरणे कहाँ गई ?

अलौकिकानन्दविधायिनी महा, कवीन्द्रकान्ते, कविते अहो कहाँ ॥

आगेययुक्त बलयुक्त सुपुष्ट गात, ऐसा जहाँ युवक एक न दृष्टि आता। सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहाँ है, कर्तव्य क्या न तुझको कुछ भी वहाँ है ॥

बाबू मैथिलीशरण गुप्त—आधुनिक खड़ी बोली के सर्वोत्कृष्ट और प्रतिनिधि कविवर मैथिलीशरण गुप्त का जन्म चिरगाँव झॉंसी में संवत् १९४३ में हुआ था। इनके पिता सेठ रामचरण, वैष्णव-भक्त 'कनक-लता' उपनाम से भक्ति की कविताएँ किया करते थे। इस प्रकार गुप्तजी को पैतृक संस्कार के रूप में कविता की प्रेरणा मिली। गुप्तजी अंग्रेजी पढ़ने के लिए स्कूल भेजे गए, पर वहाँ इनका जी न लगा। इनकी मौलिकता का आकर्षण तो दूसरी ही दिशा में था। काव्य की मोहक अनुभूतियाँ इनके हृदय को भाव और भाषा के अपूर्व सम्मिलन को ओर खींच रही थीं। अतः इन्होंने साहित्य के अंगों का अध्ययन प्रारम्भ

किया तथा आप साहित्य-महारथी पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के सम्पर्क में आये। बुन्देलखण्ड के 'आल्हा' के श्रवण से भारत की अतीत गौरव-गाथा की ओर यह भुके, और द्विवेदीजी का वरद हस्त इन्हें प्राप्त हुआ। प्रारम्भ में 'सरस्वती' में इन्होंने कविता लिखना शुरू किया, और निरन्तर अभ्यास से इनकी भाषा तथा वर्णन-शैली उत्तरोत्तर सुसंस्कृत होती गई। साथ ही राष्ट्र की सोई हुई चेतना को जागृत करने की अपूर्व संकार भी इसमें विद्यमान हुई। अतः इनका काव्य आदर को प्राप्त हुआ।

गुप्तजी 'श्री' सम्प्रदाय के अनुयायी रामोपासक वैष्णव हैं। पर इन्होंने 'राम' का दर्शन लोक में प्रतिष्ठित रूप में ही किया है, साथ-ही-साथ सन्देहवादयुक्त इस युग में इनकी यह राम-भक्ति अटल भी है। 'साकेत' के प्रारम्भ के भाग में राम के प्रति जो भक्ति-भावना आपने प्रदर्शित की है, उसमें यही प्रतीत होता है कि राम-भक्त कवियों में गोस्वामीजी के पश्चात् इन्हीं का स्थान है—

राम तुम मानव हो, ईश्वर नहीं हो क्या,
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या।
तो मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे॥

आप सरल, उदार तथा निरभिमान प्रकृति के पुरुष हैं तथा पर्याप्त सहिष्णु भी हैं।

इनकी रचनाओं में अनूदित काव्य तथा नाटक भी हैं। अनूदित काव्यों में 'मेघनाद-वध', 'वीरांगना', 'पलासी का युद्ध' तथा 'विरहिणी-ब्रजाङ्गना' आदि हैं, तथा नाटकों में 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' और 'अनघ' इत्यादि प्रसिद्ध हैं, और काव्यों में 'साकेत', 'द्वार', 'यशोधरा', 'मंगल-घट', 'जयद्रथ-वध', 'भारत-भारती', 'रंग-में-भंग', 'शकुन्तला', 'किसान', 'स्वदेश-संगीत', 'पंचवटी', 'त्रिपथगा', 'सिद्धराज', 'विकट भट', 'संकार' तथा 'नहुष' इत्यादि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

गुप्तजी ने 'भारत-भारती' के द्वारा राष्ट्रीयता की भावना से अनु-प्राणित होकर साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया था। इसका गुञ्जार एक युग तक हिन्दी-जगत् में रहा। इसमें देश के अतीत, वर्तमान और भविष्य का सकल चित्रण करके, जन-संमाज को जागरण का सन्देश प्रदान किया गया। इसी से इन्हें लोकप्रियता प्राप्त हुई, जिसमें निरन्तर वृद्धि होती चली गई। 'जयद्रथ-वध' तथा 'रंग-में-भंग' इनके करुण भावनाओं से युक्त वीर-रस-प्रधान काव्य हैं। 'साकेत', 'द्वापर' और 'यशोधरा' में इनके आध्यात्मिक तत्त्वों का विकास हुआ है। इनका ध्यान काव्य में उपेक्षित नारियों और दलित वर्ग की ओर भी गया, और उर्मिला के प्रति सहानुभूति की भावना कवीन्द्र रवीन्द्र से प्राप्त कर, उसके विरह की विविध मनोवृत्तियों का विशद विवेचन इन्होंने 'साकेत' में किया। इसी काव्य में हमें इनकी प्रतिभा के पूर्ण दर्शन भी होते हैं, और कवि ने अपनी कल्पना के सहारे परम्परागत कथा-वस्तु में कई वाञ्छनीय परिवर्तन भी किये हैं। 'यशोधरा' में उपेक्षिता यशोधरा का वर्णन करके, नारी-गौरव तथा स्वाभिमान का अमूल्य चित्राङ्कन करते हुए, कवि-समाज के कलंक को गुप्तजी ने पूरा किया है। 'अनघ' में महात्मा गांधी की प्रतिच्छाया है। विश्ववन्द्य राष्ट्रपिता गांधी ने 'साकेत' की बड़ी प्रशंसा की थी। इनकी कविता बराबर विकासोन्मुख रही है तथा उसका विकास सर्वदा स्वाभाविक और संयत रहा है। गुप्तजी सामञ्जस्य-वादी कवि हैं। इनके हृदय में महत्त्व के प्रति श्रद्धा, प्राचीन के प्रति विश्वास और नवीन के प्रति उत्साह है। अपने इष्टदेव की उपासना के पश्चात् इन्होंने अपने को बराबर सरस्वती की उपासना में प्रयुक्त किया है। अनूदित काव्य-ग्रन्थों में भी हमें पूर्ण मौलिकता का ही आभास मिलता है। प्रबन्ध तथा मुक्तक दोनों प्रकार के काव्य-ग्रन्थ इन्होंने लिखे हैं। इनके प्रकृति-वर्णन में वाङ्मय-प्रकृति और अन्तः-प्रकृति का सुन्दर सामञ्जस्य, संश्लिष्ट योजना तथा मानवीकरण भी हम पाते हैं—

चारु चन्द्र की चंचल फिरणें, खेल रही हैं जल-थल में,
स्वच्छ चाँदनी बिछी हुई हैं, अरुणि और अंबर तल में ।
पुलक प्रकट करती है धरती, हरित तृणों की नोकों से,
मानो भूम रहे हैं तंरु भी, मन्द पवन के भोंकों से ॥

गुप्तजी ने प्रबन्ध-काव्य में ही राजनीतिक और सामाजिक विचारों का समावेश किया है, तथा 'साकेत' में स्थान-स्थान पर गांधीवाद के सरल जीवन की स्पष्ट छाप है। इनकी 'भंकार' नाम की छोटी पुस्तक में हम वर्तमान रहस्यवादी कवियों की अनुरूपता भी पाते हैं।

इनकी रचनाएँ स्वाभाविक, मनोरम तथा हृदय-ग्राहिणी हैं। गोसाईंजी की भाँति इनकी जातीय संस्कृति भी विवेकमूलक है। कोरी भावुकता का आश्रय न लेकर विवेक और बौद्धिक विभूति को इन्होंने अपने काव्य का आधार बनाया है। यह केवल कलात्मक ही नहीं, प्रत्युत लोक-संग्रह की मंगल कामना को लेकर चला है, और 'बहुजनहिताय' तथा 'बहुजनसुखाय' की भावना से ओत-प्रोत है। चरित्र-चित्रण, रोचक संवाद तथा नूतन प्रसंगों की कल्पना, इनकी शैली की विशेषताएँ हैं। हिन्दी-काव्य की प्रगति के साथ यह बराबर आगे बढ़ते गए हैं। इनकी असाधारण कवित्व-शक्ति में अभी तक शिथिलता नहीं आ पाई है और वह अभी भी नूतन ही है। प्राचीन चरित्रों के द्वारा गुप्तजी ने आधुनिक समस्याओं का संकेत और समाधान भी दिया है। खड़ी बोली को उसके गौरवासन पर बिठाने का श्रेय गुप्तजी को ही है। यह उसके सफल प्रचारकों में से हैं और संस्कृत तत्समता के प्रबल पक्षपाती होते हुए भी भाषा को इन्होंने संस्कृत-बहुला नहीं बनाया है। शब्द-चयन भावानुरूप है तथा बोलचाल के ही शब्दों को अधिक अपनाया गया है। लोकोक्तियों का भी व्यवहार इन्होंने किया है, पर इसमें यह अधिक सफल नहीं हुए हैं। गुप्तजी ने प्रायः हिन्दी के छन्दों में ही कविता लिखी है, और कुछ अनुकान्त छन्दों को भी अपनाया है। शब्द-योजना, वाक्य-विन्यास, कथोपकथन,

समासपूर्ण शैली तथा ओज, प्रसाद और माधुर्य आदि गुण आपकी भाषा की विशेषताएँ हैं। इनके 'साकेत' पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' और हिन्दुस्तानी एकेडमी प्रयाग से एक और पारितोषिक प्राप्त हुआ है। पिछले दिनों हिन्दी-जगत् ने आपकी हीरक-जयन्ती मनाकर एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भी अर्पित किया है।

हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि 'यदि रवीन्द्रनाथ ठाकुर विश्व-कवि हैं तो गुप्तजी राष्ट्र-कवि; और राष्ट्र ने इन्हें अपने प्रतिनिधि कवि के पद पर प्रतिष्ठित करके अपना कर्तव्य-पालन ही किया है, क्योंकि इनमें भारत की ही आत्मा प्रमुख रूप से प्रतिबिम्बित हो रही है।'

गुप्तजी की ही भाँति आपके अनुज सियारामशरण गुप्त ने भी 'मृणमयी', 'अन्तिम आकांक्षा', 'गोद', 'नारी' और 'बापू' तथा 'आत्मोत्सर्ग' के द्वारा लोक-संग्रह को अपनाया है, पर इनकी रचना में ग्रामीण जीवन का हम सरस चित्र ही पाते हैं। इनकी कविता प्राकृतिक सौन्दर्य से युक्त, परिपक्व, रस से ओत-प्रोत, प्राणों को तुष्ट और मन को मुग्ध करने वाली, मृदुलता, मुग्धता और अलङ्करण को लिये हुए चली है। इन्होंने कविता, उपन्यास, कहानियाँ और 'गद्यलेख' सभी को अपनी रचना के लिए अपनाया है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—इनका जन्म सं० १९२२ में और देहान्त सं० २००४ में आजमगढ़ (उत्तर प्रदेश) के निजामाबाद गाँव में हुआ। यह संस्कृत, अंग्रेजी तथा फारसी इत्यादि के अच्छे जानकार थे। सरकारी नौकरी से पेन्शन लेकर हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में अध्यापन-कार्य भी इन्होंने किया। पहले इन्होंने ब्रजभाषा में भी कविता की, और ये पद 'रस-कलश' में संग्रहीत हैं, पर बाद में खड़ी बोली की ओर झुके। इसके लिए आरम्भ में इन्होंने उर्दू के छन्द और ठेठ बोली को अपनाया तथा इसी ढंग पर अपनी कविता की। अतः कविता के क्षेत्र में द्विवेदीजी के पहले ही यह पदार्पण कर चुके थे। पर जब आचार्य द्विवेदी ने खड़ी बोली में संस्कृत-छन्दों

और पदावली का आश्रय ग्रहण किया, तो उपाध्यायजी, जो गद्य में अपनी प्रतिभा का परिचय प्रदान कर चुके थे, इस शैली की ओर भी बढ़े, और 'प्रियप्रवास' नामक अपना महाकाव्य लिखा। सिख-सम्प्रदाय के नजीमाबाद के महन्त बाबा सुमेरसिंह से, जिन्होंने 'रसिक समाज' की स्थापना की थी, हरिऔध जी काफी प्रभावित हुए थे।

इनकी रचनाओं में कविता के क्षेत्र में 'प्रियप्रवास', 'वैदेही-बनवास', 'पारिजात', 'पद्य-प्रसून', 'मुहावरेदार ठेठ तथा सरल हिन्दी में चुभते चौपदे' तथा 'चोखे चौपदे' इत्यादि सरल कविताओं के संग्रह, 'काव्योपवन', 'प्रेम-प्रपंच', 'ऋतुमुकुर' तथा ब्रजभाषा की कविताओं का संग्रह 'रस-कलश' हैं। पद्य के समान गद्य में भी इन्होंने दोनों प्रकार की रचनाएँ लिखीं। 'बेनिस का बाँका' तथा एक अनूदित उपन्यास संस्कृत-निष्ठ भाषा में है, और 'अधखिला फूल' तथा 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' नामक उपन्यास अपने नाम को ही भाषा-पक्ष में सार्थक कर रहे हैं। इस तरह काव्य तथा पुरानी परिपाटी की ब्रजभाषा, संस्कृत-गर्भित कोमलकान्त पदावली वाली खड़ी बोली तथा साधारण बोलचाल की भाषा, तीनों को अपनाकर अपनी विशिष्ट कला का परिचय इन्होंने दिया है। 'प्रियप्रवास' की रचना के पश्चात् इनका ध्यान मुहावरों की ओर अधिक गया है—

क्यों पले पीसकर किसी को तू? है बहुत पालिसी बुरी तेरी।

हम रहे चाहते पटाना ही, पेट तुझसे पटी नहीं मेरी ॥

हरिऔध जी ने संस्कृत-वृत्तों एवं भिन्न तुकान्त पदों को लेकर अपनी लेखनी चलाई, पर अनुप्रास तथा उपमा आदि अलंकारों को महत्त्व देते हुए भी इसकी वेदी पर भावों की नैसर्गिकता और शैली की बोध-गम्यता की बलि नहीं दी।

'प्रियप्रवास' में हम लोक-संग्रह की भावना का उचित समावेश पाते हैं। इसमें श्रीकृष्ण को ब्रज के नेता के रूप में स्वीकार किया गया है। खड़ी बोली का यह एक विशिष्ट महाकाव्य है। यह सम्पूर्ण महाकाव्य संस्कृत-वृत्तों में ही लिखा गया है। 'द्विवेदी' जी की शैली से

इनकी यह संस्कृत-निष्ठ शैली भिन्न ही है, क्योंकि इनका पद-विन्यास कोमलकान्त पदावली से युक्त होता हुआ, उपसर्गों से युक्त होते हुए, जटिल होता गया है। इसमें भावों की अनुपम व्यंजना तथा रमणीय वर्णन उपस्थित किये गए हैं। 'विरह' का तो अपूर्व चित्रण है। इस महाकाव्य में राधा और कृष्ण-सम्बन्धी परम्परा का, जो भक्ति-काल और रीति-युग से चली आ रही थी, अनुसरण नहीं किया गया, और राधा तथा कृष्ण केवल प्रेमिका और प्रेमी के रूप में ही नहीं चित्रित किये गए, वरन् वे देश के महान नेता एवं रत्नक के रूप में भी हमारे सामने उपस्थित होते हैं। 'वैदेही-वनवास' में भी सीता को पतिपरायणा-पत्नी ही नहीं, प्रत्युत राष्ट्र-हितैषिणी आदर्श महिला के रूप में अंकित किया गया है, तथा यह काव्य विप्रलम्भ शृङ्गार से परिपूर्ण कारुण्य-प्रधान है। शैली तथा भाषा की विविधता तथा गद्य और पद्य में समान गति के कारण यह सर्वप्रतिभा-सम्पन्न लेखक तथा एक विशिष्ट कवि दोनों ही थे। पर इनकी अधिकांश कविताओं से कृत्रिमता ही टपकती है और इनमें हमें कवि-हृदय की वास्तविक अनुभूति के दर्शन नहीं होते। इसका कारण यही है कि यह एक कवि तथा लेखक न होकर आगे चलकर समाज-सुधारक, उपदेशक और मुहावरों के संग्रहकर्ता ही बन गए। 'कबीर-वचनावली' तथा 'हिन्दी भाषा व साहित्य का विकास' आपकी समालोचनात्मक रचनाएँ हैं। 'प्रियप्रवास' पर आपको 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त हुआ है। हिन्दी-प्रचारिणी-सभा शाहाबाद (बिहार) ने आपको एक अभिनन्दन-ग्रन्थ भी भेंट किया है, और हिन्दी साहित्य-सम्मेलन के सभापति के पद को भी आपने सुशोभित किया था। इनके कुछ पद उदाहरण-स्वरूप नीचे दिये जाते हैं—

कुञ्जें वही थल वही, यमुना वही है, बेलें वही बन वही, विटपी वही है।
हैं पुष्प-पल्लव वही, ब्रज भी वही है, ए किन्तु श्याम बिन हैं न वही जनाते ॥
धीरे-धीरे दिनगत हुआ, पद्मिनीनाथ डूबे, आई दोषा, फिर गत हुई,
दूसरा बार आया।

यों ही बीती विपुल घटिका औ' कई बार बीते, आया कोई न मधुपुर से औ'
न गोपाल आये ।

पं० रामचरन उपाध्याय संस्कृत के अच्छे विद्वान थे । पहले यह पुरानी परिपाटी का अवलम्बन लेकर चले थे, पर बाद में खड़ी बोली के क्षेत्र में आये । द्विवेदीजी के प्रोत्साहन से 'राष्ट्र-भारती', 'देवदूत', 'देवी द्रौपदी', 'भारत-भक्ति' इत्यादि कविताएँ इन्होंने विदग्ध भाषण से युक्त लिखीं । बाद में 'रामचरित-चिन्तामणि' नामक एक प्रबन्ध-काव्य की भी रचना की, जिसके कई प्रसंग अत्यन्त सुन्दर हैं । भाषा इनकी अत्यन्त साफ है ।

संस्कृत के विद्वान्, गिरिधर्म शर्मा 'नवरत्न' तथा पं० लोचनप्रसाद पांडे भी द्विवेदीजी के सम्पर्क में आये थे । शर्माजी ने ब्रजभाषा में ही पद्य-रचना अधिक की है, और संस्कृत के काव्यों का अनुवाद तथा रवीन्द्र बाबू की 'गीताञ्जलि' का अनुवाद प्रस्तुत किया है । खड़ी बोली की इनकी कविताएँ उल्लेखनीय हैं । पांडेजी ने अपनी कविता कथा प्रबन्ध तथा फुटकल दोनों रूपों में लिखी है, और आपकी भाषा पर द्विवेदीजी की स्पष्ट छाप है । •

द्विवेदी-युग में कुछ ऐसे कवि भी हुए जो इस युग से विशेष प्रभावित नहीं थे, जिनका अपना अलग रंग ढंग था, और जो अपनी व्यक्तिगत पद्धति का अनुसरण करते हुए चलते थे । इन कवियों में सत्यनारायण 'कविरत्न', राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', पं० नाथुराम 'शंकर' शर्मा, पं० गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', लाला भगवानदीन, पं० रूपनारायण 'पांडे' तथा पं० रामनरेश त्रिपाठी के नाम लिये जा सकते हैं । इन कवियों में अधिक कवि ऐसे थे, जो ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों का आश्रय लेकर अपनी काव्य-रचना करते थे । ये कवि रीतिकालीन तथा भक्तियुगीन कवियों के साहित्य एवं उसकी परम्परा से प्रभावित थे, और इनका दृष्टिकोण समाज-सुधार, राष्ट्रीय-प्रेम तथा आदर्शवाद की ओर न होकर जीवन के एक दूसरे ही पक्ष की ओर था । इन्होंने अपनी कविताओं

ने सामाजिक जीवन के प्रचलित कथानकों को न लेकर काल्पनिक कथानकों का आश्रय लिया, परन्तु कल्पना का अवलम्बन करके भी कवि-जीवन की अन्तरात्मा को यह पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सके।

पं० सत्यनारायण कविरत्न (जन्म-संवत् १९३६ मृत्यु-सं० १९७५) ने ब्रजभाषा में उत्तम कविता की। यह ब्रजराज तथा ब्रजभाषा के अनन्य उपासक थे और कृष्ण-प्रेम में इनकी आँखें भूमती रहती थीं। रीतिकालीन परम्परा का अनुसरण न करके कृष्ण-भक्ति शाखा का सहारा लेकर, ब्रजभाषा में इन्होंने अपनी रचनाओं को प्रकट किया, जिसके प्रत्येक अक्षर में अपूर्व तन्मयता परिलक्षित होती है। रसखान और मीरा की भाँति कवि की आत्मा की वास्तविक अनुभूति ही हम इनकी कविता में पाते हैं। सरल तथा उदार प्रकृति के पुरुष होने के कारण इनकी अधिकांश रचनाएँ सामयिक ही हो पाईं। इनकी बड़ी कविताओं में 'प्रेमकली' और 'भ्रमर-दूत' के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'उत्तररामचरित' तथा 'मालती-माधव' नामक भवभूति के नाटकों का भी मधुर तथा सरस अनुवाद खड़ी बोली में इन्होंने किया है। इन्होंने 'भ्रमर-दूत' की रचना जिस ढंग से की है, वह अनूठी तथा प्रभावोत्पादनी है। साथ ही इन्होंने ब्रजभाषा का भी जीता-जागता ही रूप स्वीकार किया है। अतः आपकी कविता मर्म-स्पर्शी है। नाथूरामजी ने ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों में, फबती तथा फटकार से युक्त, कवित्त तथा सवैये कहे हैं। इनकी पदावली में कुछ उद्वेगता भी पाई जाती है। 'सनेही जी' ने पहले उर्दू में कविता लिखी, और बाद में ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली को अपनाया। इनकी भाषा मुहावरेदार और चलती है। 'दीनजी' भी पहले पुरानी परिपाटी के अनुसार ब्रजभाषा में लिखते थे, पर 'लक्ष्मी' के सम्पादन-काल में इन्होंने खड़ी बोली को अपनाया, और वीरों के चरित्र को लेकर, उर्दू की प्रणाली पर बोलचाल की भाषा में फड़कती हुई, वीर-रसपूर्ण रचना की। रूपनारायण पाण्डेयजी ने कविता के उपयुक्त ही विषयों

का चयन किया है, और इस तरह अपनी रचना में सरसता का समावेश कर पाए हैं।

पं० रामनरेश त्रिपाठी का जन्म संवत् १९४७ में हुआ था। इनका दृष्टिकोण अल्प कवियों की अपेक्षा अधिक व्यापक था। इनकी कविता देश-प्रेम की भावना से ओत-प्रोत तथा मानव-हृदय में सद्बृत्तियों को जागृत करने वाली है। श्रीधर पाठक की स्वच्छन्दतावाद की धारा में यह भी बहे, तथा प्रकृति के वास्तविक चित्रण, स्वदेशानुराग और उदात्त भावनाओं से अनुप्राणित होकर, इन्होंने अपने तीन खण्ड-काव्य 'स्वप्न', 'पथिक' और 'मिलन' नामक लिखे, जिनमें कहीं-कहीं छायावाद की भी झलक मिलती है। कथानकों के लिए ऐतिहासिक अथवा पौराणिक आधार न लेकर कल्पना का ही पूर्ण आश्रय लिया गया है। इन्होंने भाषा की सफाई पर विशेष ध्यान दिया है। 'कविता-कौमुदी' नामक एक बृहत् काव्य-संग्रह भी सात भागों में प्रकाशित किया है तथा ग्राम-गीतों के संकलन का भी सम्पादन किया है। इनकी रचनाएँ बहुत ही अधिक हैं, जिनमें 'मानसी', 'स्वप्न-चित्र', 'हिन्दुस्तानी कोष', 'रामचरितमानस की टीका', 'तुलसीदास और उनकी कविता', 'सुदामा-चरित', 'पार्वती-मंगल', 'चिन्तामणि', 'हिन्दी का संक्षिप्त इतिहास' तथा 'सुकवि विनोद' आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके प्रकृति-वर्णन में स्थानगत विशेषताएँ पाई जाती हैं। इनकी कल्पना मानव-मस्तिष्क से दूर न जाकर मर्म-स्पर्शी होती हुई सामान्य पथ पर ही चली है। डा० गोपालशरणसिंह ने मुक्तक रचनाएँ को हैं, और खड़ी बोली में बड़े ही रोचक कवित्त लिखे हैं। द्विवेदी-युग के अन्य कवियों में व्यंग्यचित्र-लेखक प० बद्रीनाथ भट्ट, खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा के भावुक कवि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, अनूप शर्मा तथा 'नूरजहाँ' के सुप्रसिद्ध लेखक गुरु भक्तसिंह भक्त हैं। इस तरह इस युग में रीति-कालीन परम्परा तथा आधुनिक खड़ी बोली की नव-काव्य-प्रणाली का अपूर्व समन्वय हुआ है। आगे चलकर

द्विवेदी-युग के पश्चात् भी, जब आधुनिक कविता ने छायावाद, रहस्य-वाद तथा प्रगतिवाद इत्यादि की परिधि में प्रवेश किया, तो द्विवेदी-प्रवर्तित यह खड़ी बोली की काव्य-परम्परा कायम रही और 'त्रेता के दो वीर' तथा 'हल्दी घाटी' और 'जौहर'-जैसे भुजदण्डों को फड़काने वाली वीर-रस-प्रधान रचना के कवि श्री श्यामनारायण पाण्डेय तथा खड़ी बोली के कवित्त-सवैयाओं में ब्रजभाषा की-सी मधुरता लाने वाले जगदम्बाप्रसाद हितैषी और पुरोहित प्रतापनारायण इत्यादि इसी से प्रभावित रहे। इसके पश्चात् हिन्दी-कविता ने छायावाद के क्षेत्र में पदार्पण किया। सभी प्रकार के वर्णनों में रहस्यात्मकता एवं कला का रंग चढ़ाया जाने लगा। यद्यपि प्रसादजी इत्यादि ने अपनी रचनाएँ द्विवेदी-युग में ही प्रारम्भ कर दी थीं पर भाषा, विषय और शैली सभी दृष्टियों से हिन्दी-साहित्य के पद्य-क्षेत्र में यह एक नवीन मार्ग के प्रवर्तक हुए।

द्विवेदी-युग में खड़ी बोली काव्य की कसौटी पर सच्ची उतरी तथा उसका एक अपना रूप भी स्थिर हो गया था, पर ब्रजभाषा की-सी कोमलकान्त पदावली उसमें अभी नहीं आ पाई थी। साथ ही साहित्य के क्षेत्र में उपदेशात्मकता तथा इतिवृत्तात्मकता अपने चरमोत्कर्ष तक पहुँच चुकी थी। पर छायावादी कवियों ने भाषा में लालित्य तथा सौकुमार्य को प्रतिष्ठित किया और हृदय की सच्ची वेदनाओं का उसमें समावेश हो पाया। द्विवेदी-युग में ही श्री मैथिलीशरण गुप्त तथा मुकुटधर पाण्डे, आदि ने खड़ी बोली की कविता को कल्पना, चित्रमयता तथा हृदय की आन्तरिक अनुभूति से युक्त करके, एक विभिन्न मार्ग की ओर इंगित किया था, तथा ये एक स्वच्छन्द और नूतन प्रवाह के समर्थक हुए। ठीक इसी समय बंगला में कवीन्द्र-रवीन्द्र के द्वारा आध्यात्मिक रहस्यवाद पश्चिमी पुट लिये हुए प्रकट हुआ। राष्ट्र की विचारधारा भी अब सामाजिक तथा राजनीतिक रूप से कुछ परिवर्तित हो चुकी थी, और 'गांधीवाद' का विशाल वृत्त अब पल्लवित

हो चुका था। अतः द्विवेदी-युग की यथातथ्य वर्णन की रूखी शैल अर्थात् इतिवृत्तात्मकता (Matter of fact) के विरुद्ध साहित्यिक क्षेत्र में जो प्रतिक्रिया आई वह 'छायावाद' के नाम से प्रतिष्ठित हुई। इसके एक शाखा गुह्य से युक्त आधुनिकता का पुट लिये हुए रहस्यवाद भी था। सर्वतोमुखी प्रतिभा-सम्पन्न 'प्रसाद' जी इसके सफल नेता हुए और यहीं से एक नवीन काव्य-धारा का प्रचलन हुआ।

छायावाद और रहस्यवाद

सबसे पहले बंगाल के 'ब्रह्म-समाज' ने रूपात्मक आभास को प्रकट करने वाली, यूरोप की 'छाया' (Phantasmata) का अनुगमन करके ऐसे भजनों की रचना की, जिनमें आध्यात्मिकता का उचित सन्निवेश था। इन भजनों की संज्ञा 'छायावाद' हुई। धीरे-धीरे धार्मिक क्षेत्र से इसका अवतरण साहित्यिक क्षेत्र में भी हुआ और रवि बाबू के प्रभाव से इसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर भी हुआ। यहाँ भी 'छायावाद' की ही धूम मची और लोग एकबारगी इसी ओर झुक पड़े बंगला और अंग्रेजी की पदावली का ऐसा अनुकरण हुआ कि कालों लोग अपनी स्वतन्त्र उद्भावना का परित्याग करके अनुवाद-मात्र ही उपस्थित कर पाए। कविता में भावों की अप्रसादकता का समावेश हुआ। प्रारम्भ में इसकी तीव्र आलोचना हुई, और कुछ लोगों ने तब यहाँ तक कह डाला कि जो समझ में न आएँ वे ही रचनाएँ 'छायावादी' हैं।

विज्ञान ने आधुनिक युग की इन्द्रिय-गोचरता को ही वास्तविक ठहराकर सम्पूर्ण विश्व में 'उपयोगितावाद' की धूम मचाई। कोई वस्तु जिस तरह बाहर से दिखलाई पड़ती है, वही उसकी वास्तविकता माना जाती है। परन्तु मानव-हृदय विशालता से भी युक्त है। वह अपने दृष्टि को बाह्य-जगत् तक ही सीमित नहीं रख सका है। प्रकृति के हास विलास ने उसे विशेष रूप से आकृष्ट किया है। अतः कवि प्रकृति तथा मनुष्य के इस सम्बन्ध को प्रकट करके, चराचर-मात्र में ए

अव्यक्त आत्म-तत्त्व को अन्तर्हित पाता है तथा किसी भी वस्तु में केवल उपयोगिता-मात्र को ही न खोजकर उसमें भावुकता के भी दर्शन करता है। इसी प्रवृत्ति का नाम 'छायावाद' है। साधारण मनुष्य का हृदय सदा संकुचित ही होता है। उसे प्रकृति में सर्वत्र आत्म-तत्त्व के दर्शन नहीं होते। अनेक भेद-उपभेद उसे एक छुद्र परिधि में घेरे रहते हैं। खिले हुए फूल की केवल वह प्रशंसा-मात्र ही कर सकता है, पर यह विचार उसके मस्तिष्क में नहीं आता कि यह फूल भी आत्मा से युक्त है तथा दुःख-सुख इत्यादि का अनुभव इसे भी है। पर एक कवि के अन्दर यह अन्तर्दृष्टि विद्यमान होती है। वह पदार्थ-मात्र में अपनी सत्ता की स्थापना करके, उनके सुख-दुखों में ही अपने को लीन करता है, तथा इस आत्मलीनता की अनुपम एवं अलौकिक अवस्था को प्राप्त करके, अपने हृदय के वास्तविक उद्गारों को प्रकट करता है। यही 'छायावादी' कविता है तथा इसके अनुकूल वास्तविक संसार एक विचारमय संसार की छाया-मात्र रह जाता है। अतः सुप्रसिद्ध समालोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसकी उत्पत्ति 'छायाभास' से मानते हैं। कविवर जयशंकरप्रसाद ने 'छायावाद' को मोती की आब से सम्बन्धित बतलाया है, जो वस्तुओं के मूल्य को बढ़ाती है।

'छायावाद' दो अर्थों में प्रयुक्त है। एक तो वहाँ जहाँ यह रहस्यात्मक पुट लिये हुए काव्य में विद्यमान होता है, और कवि अपने उस अनन्त, असीम तथा अलौकिक सौन्दर्य एवं ज्ञानतत्त्व को चित्रमयी भाषा, तथा व्यंजना के द्वारा वाह्य-संसार के पदार्थों में देखता है। दूसरा प्रयोग शैली अथवा पद्धति-विशेष को लेकर है, जिसमें प्रस्तुत के स्थान पर अधिकतर अप्रस्तुत प्रयोगों की योजना, मूर्त का अमूर्त से सम्बन्ध, लाल्पणिक प्रयोगों की प्रचुरता, छन्द की स्वच्छन्दता इत्यादि को विशेष स्थान प्रदान किया गया है। प्रकृति का चित्रण समवेदनात्मक दृष्टि से ही हुआ है, और प्राचीन कविता के जो प्राण रस तथा अलंकार आदि थे वे इस शैली में ध्वनि एवं व्यंजना के रूप में ही परिणत हो

गए हैं। अतः उपयुक्त दोनों अर्थों को लेकर कवियों ने अपनी रचना की है। मूल स्रोत को लेकर चलने वाली महादेवी वर्मा हैं तथा प्रतीक-पद्धति को विशेष रूप से अपनाने वाले पन्त, प्रसाद तथा निराला आदि हैं। इस तरह हम देखते हैं कि प्रकृति पर जहाँ मानवीय भावों का आरोप किया जाता है और जड़-चेतन का अद्भुत समीकरण दर्शाया जाता है वही छायावाद है। इसमें सभी वस्तुओं का मानवीकरण प्रधान होता है और बुद्धिवाद का स्थान भावुकता ग्रहण कर लेती है।

वास्तव में छायावाद तथा रहस्यवाद में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। जिस प्रकार हम छायावाद में इतिवृत्तात्मक तथा दृश्यमान भौतिकता के स्थान पर एक अदृश्यमान भावुकता को विद्यमान पाते हैं, उसी प्रकार रहस्यवाद में किसी अलौकिक सत्ता की ओर संकेत किया जाता है। कवि प्रत्येक पदार्थ में आत्मतत्त्व का दर्शन पाकर, उसमें अनन्त-सौन्दर्य की मूर्ति, परम-प्रियतम के साक्षात्कार के आभास का भी अनुभव करता है। फूलों की पंखुड़ियों तथा नदियों की लहरों आदि में, अपने प्रियतम के अनेक रूपों को वह उपस्थित पाता है। इन्हीं अलख, अगोचर सत्ता के प्रत्यक्ष रूप के चित्र को उपस्थित करने वाली कविता को रहस्यवादी कहा जाता है। इस प्रकार छायावाद तथा रहस्यवाद में कोई विशेष विभिन्नता नहीं है। ये एक ही विचारधारा की दो स्थितियाँ हैं। जब तक मानव और प्रकृति के बारे में वर्णन रहेगा, तब तक तो उसकी संज्ञा 'छायावाद' की ही रहेगी, पर जहाँ किसी अज्ञात, अलौकिक तथा अगोचर सत्ता की ओर इशारा किया जायगा, वह कविता 'रहस्यवाद' के नाम से प्रसिद्ध होगी। इस तरह 'रहस्यवाद' मनुष्य तथा सम्पूर्ण जगत् का सम्बन्ध उसको प्रचालन करने वाली श्रेष्ठ सत्ता के साथ करता है, तथा भावुकता से ऊपर उठकर नश्वर और शाश्वत के अपूर्व सामञ्जस्य को उपस्थित करता है।

रहस्यवाद हिन्दी-साहित्य में नवीन नहीं है। गीता में भी ईश्वर तथा मनुष्य के सम्बन्ध को 'रहस्य' अथवा 'गुह्य' कहा गया है—

‘इदं हि ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामनु सूर्यवे’, इत्यादि । उपनिषदों में भी इस पर कथन है तथा कबीर, जायसी आदि निगुण सन्तों की बानियों में भी इसके दर्शन होते हैं—

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी ।

फूटा कुंभ जल जलहिं समाना यह तथ कहीं गियानी ॥

अनुभव की तीव्रता के कारण मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध में दाम्पत्यभाव की प्रधानता होने से रहस्यवाद में शृङ्गारिक-भाषा का ही अधिक प्रयोग दृष्टि-गोचर होता है । कबीर ने भी अपने को ‘राम की बहुरिया’ कहा है, तथा रवि बाबू लिखते हैं—

ऐकला आभिबाहिर होलेम तोमार अभिसारे ।

प्राचीन रहस्यवाद में हम प्रधानतया उपदेशात्मक प्रवृत्ति ही पाते हैं, पर आधुनिक रहस्यवाद साहित्यिक सौन्दर्य-समन्वित है । इसमें मिलन के सुख और वियोग के दुःख दोनों की अपूर्व अभिव्यंजना है—

युग युगान्तर की पथिक मैं छू कभी लूँ छाँह तेरी ।

ले फिरे सुधि दीप सी फिर राह मे अपनी अँधेरी ॥

आजकल का रहस्यवाद कल्पना-प्रधान भी है । विरह की वेदना के जो वर्णन हैं, वे कल्पना-प्रधान ही हैं । पर छायावाद तथा रहस्यवाद का आधुनिक कविता में कुछ दुरुपयोग भी हुआ है । लोगों ने इसे कविता का एक विषय-सा बना लिया है, और पृथ्वी की बातों का पूर्ण परित्याग करके सभी हवाई उड़ान उड़ना चाहते हैं । इससे काव्य कुछ संकुचित-सा हो गया है । पर अब ‘छायावादी’ कवि जीवन की ओर भी झुक रहे हैं । ‘इस तरह छायावाद भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक दर्शन की नव प्रतिष्ठा का वर्तमान, अनिश्चित परिस्थितियों में एक सक्रिय प्रयत्न है ।’

‘छायावादी’ कवियों में जयशंकरप्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, सूर्य-कान्त त्रिपाठी ‘निराला’, महादेवी वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, भगवतीचरण वर्मा, बच्चन आदि हैं । इस युग के

कवियों ने परम्परा से चले आये हुए छन्दों के बन्धनों को भी समाप्त कर दिया है, और कविता एक सरिता की जल-राशि के समान बिना किसी पथ-बाधा के स्वच्छन्द रूप से प्रवाहित हुई है। साथ ही उसमें देश-प्रेम, राष्ट्र-प्रेम एवं समाज-सुधार का भी गहरा पुट विद्यमान है।

श्री जयशंकरप्रसाद—कविवर प्रसाद का जन्म सं० १९४६ में काशी के प्रतिष्ठित तथा धनी वैश्य परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम देवीप्रसाद जी था। इनकी शिक्षा अभी अंग्रेजी मिडिल तक ही हो पाई थी कि इनके पिता का देहान्त हो गया, और स्कूल छोड़कर घर ही पर अध्यापक रखकर इन्हें अपने अध्ययन को जारी रखना पड़ा। काशी में इनका परिवार भी शास्त्र-चर्चा के लिए विख्यात था और इसका प्रभाव प्रसादजी पर भी पड़ा। सत्रह वर्ष की ही अवस्था में आपके बड़े भाई की भी मृत्यु हो गई और परिवार तथा व्यवसाय का पूरा भार इन पर आ पड़ा, जिसे इन्होंने सावधानी और लगन के साथ सँभाला। परिवार की पूर्वप्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए यह अपना विद्या-व्यसन भी बढ़ाते गए।

प्रसादजी अध्ययनशील थे और स्वतन्त्र रूप से विचार करने में अधिक समय देते थे। आपने संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी, और उर्दू का अच्छा अध्ययन किया था। भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व पर इनके कई स्वतन्त्र लेख हैं, जिनमें इनके गम्भीर अध्ययन और मौलिक विवेचन का स्पष्ट आभास मिलता है। साहित्य के विभिन्न अंगों की ओर इनकी रुचि बचपन से ही चली आई है। 'भारतेन्दु' हरिश्चन्द्र ने काशी में साहित्य का जो वातावरण तैयार किया था, 'प्रसाद' के विकास में वह भी सहायक हुआ। इनका स्वभाव सरल और आकर्षक था। साहित्यकारों की गोष्ठी प्रतिदिन इनके यहाँ देखी जाती थी। हिन्दी-साहित्य की आशा पर तुषारापात करते हुए ईश्वर ने हमारे 'साहित्य-निर्माता' को छीन लिया और अड़तालीस वर्ष की आयु में ही इनका देहान्त हो गया।

इनके गद्य-साहित्य का गद्य के विवेचन में उल्लेख हो चुका है कि किस तरह भारत के अतीत का चित्रण करने वाले नाटक तथा समाज के प्रतिबिम्ब को उपस्थित करते हुए उपन्यास एवं कहानियाँ लिखकर, आपने गद्य-मार्ग का पथ-प्रदर्शन किया। कविता में 'कामायनी', 'आँसू', 'लहर', 'कानन', 'कुसुम', 'महाराणा का महत्त्व', 'प्रेम-पथिक', चित्रा-धार, 'भरना' और 'करुणालय' इनकी रचनाएँ हैं। आपने संस्कृत-साहित्य की ध्वन्यात्मक शैली को अपनाया है। अतः रचनाएँ कहीं-कहीं दुरूह हो उठी हैं। काव्य में भी नाटकत्व के गुण विद्यमान हैं। भाषा प्रारम्भ में इनकी ब्रज थी। 'चित्राधार' और उस समय के नाटकों के पदों में इन्होंने इसी भाषा का व्यवहार किया था। बाद को खड़ी बोली की प्रगति के साथ यह अग्रसर होते गए और छायावाद तक बढ़ते आए। इनकी 'कामायनी' पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' भी प्राप्त हुआ है।

भावों की गम्भीरता, दार्शनिक विचार और भावुकता, इनकी रचनाओं में अधिक हैं। इनके भावावेश में गुप्तजी की विवेक-प्रियता नहीं है। चरित्र-चित्रण भी यह स्वाभाविक नहीं कर सके हैं, और इनके काव्य में वर्णित मानव-जीवन की अनुभूति अतिरंजित और अधिक अंशों में असत्य है। इनकी दार्शनिकता पाठकों को कोई निश्चित विचार-धारा न प्रदान करके बुद्धि में भ्रम पैदा कर सकती है, साथ ही इनकी रचनाओं में निराशा, अवसाद और तन्द्रा की ही अवस्थाएँ अधिक हैं, और प्राकृतिक विवेक, सजग और सचेत जीवन का अभाव है। पर यह ही मनीषी थे, जिन्होंने हिन्दी-साहित्य में नवीन विषयों की अवतारण की और भाव-जगत् का संस्कार किया। नवीन भावनाओं के साथ काव्य को नवीन कल्पनाएँ भी प्रदान कीं। आन्तरिक तथा बाह्य दोनों सौन्दर्यों पर इन्होंने उचित प्रकाश डाला है। प्रकृति के प्रति सच्चे प्रेम के यह प्रथम परिचायक और प्रेरक हैं। इन्हें यौवन और प्रेम का कवि भी कहा जाता है। यह हिन्दी-साहित्य की 'छायावाद और रहस्यवाद' की शैली के प्रवर्तक हैं और प्रेम तथा वासना को अपने वास्तविक तथा पृथक्-पृथक्

रूप में चित्रित करने वाले प्रथम कवि हैं। अधिकतर प्रियतम की संयोग तथा वियोग से युक्त रहस्यमयी भावना को ही इन्होंने उपस्थित किया है—

अवकाश असीम सुखों से
आकाश तरंग बनाता
हँसता सा छाया पथ में
नक्षत्र-समाज दिखाता ।

‘लहर’ में आपने मानव-जीवन में सरसता का संचार करने वाली, ‘लहर’ विशेष का ही समावेश किया है। इसमें रहस्यवादी गान भी भरे पड़े हैं। प्रकृति के सुन्दर रूप को लेकर कहीं-कहीं रूपक भी बाँधे गए हैं—
वीती विभावरी जाग री ।

अम्बर पनघट में डुबो रही, तारा घट उषानागरी ॥

इसमें इतिहास के भी दर्शन होते हैं और अतीत में कल्पना का सुन्दर प्रवेश परिलक्षित होता है। ‘अशोक की चिन्ता’, ‘शेरसिंह का आत्म-समर्पण’ आदि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। ‘कामायनी’ में भारतीय इतिहास के अरुणोदय को प्रदर्शित करते हुए, दार्शनिकता के पुट के साथ, कवि ने अपने ‘आनन्दवाद’ की स्थापना की है। इसमें मानव का इतिहास सुन्दर रूप से उपस्थित किया गया है। यह काव्य शैव-दर्शन से प्रभावित है। ‘श्रद्धा’ को इसमें श्रेष्ठता प्रदान की गई है और ‘चिन्ता’, ‘बुद्धि’ या ‘विवेक’ आदि निन्द्य हैं—

मनु ! तुम श्रद्धा को गये भूल ।

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में, कुछ सत्ता है नारी की ।

समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की ॥

इन्होंने अन्य पूर्ववर्ती कवियों का अनुकरण न करके नारी को साधना-मार्ग में भी साधक माना है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत नग पग तल में ।

पीयूष-स्रोत सी बहा करो, जीवन के सुन्दर समतल में ॥

इससे भारतीय मानवता का दिव्य सन्देश ही सुनाई पड़ता है। प्रलय का भी इसमें सजीव वर्णन है। इस प्रकार प्रसादजी में हमें वास्तविकता, आध्यात्मिकता, अभिव्यंजनात्मकता तथा लाक्षणिकता इत्यादि के दर्शन होते हैं। 'प्रबन्ध' तथा 'मुक्तक' दोनों शैलियों में आप सफल हुए हैं। सच्ची देश-भक्ति का भी इनकी रचनाओं में सुन्दर योग है। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण ही यह एक युग-प्रवर्तक कवि तथा लेखक कहे जाते हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त—इनका जन्म संवत् १९२८ में जिला अल्मोड़ा (उत्तर प्रदेश) के कसौली नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० गंगादत्त पन्त था। इन्होंने एफ० ए० तक शिक्षा पाई है, पर अन्य साहित्यिकों की भाँति इनका अधिकतर अध्ययन घर पर ही हुआ है। इन्होंने संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेजी-साहित्य का गम्भीरता से अध्ययन किया है और बंगला की तो आप पर स्पष्ट छाप विद्यमान है।

इनकी रचनाओं में 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'उच्छ्वास', 'पल्लव', 'गुंजन', 'युगान्त', 'युगवाणी', 'पल्लविनी', 'स्वर्ण-किरण' आदि विख्यात हैं। आप इन दिनों 'गांधीवाद' से विशेष प्रभावित हुए हैं, और 'युगवाणी' तथा 'युगान्त' में हम इसकी स्पष्ट छाप पाते हैं। अपनी 'ग्राम्या' में आपने ग्राम्य-जीवन का सुन्दर चित्र उपस्थित किया है—

स्वाभाविक नारी-जन की लज्जा से वेष्टित ।

नित कर्मनिष्ठ, अंगों की दृष्ट-पुष्ट सुन्दर ॥

'गांधी' जी के स्वर्गारोहण के पश्चात् उनको श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए 'खादी के फूल' में आपने कुछ कविताएँ लिखी हैं—

प्रथम अहिंसक मानव वन के तुम आये हिंस धरा पर ।

मनुज-बुद्धि को मनुज-हृदय के स्पर्शों से संस्कृत कर;

.....

मनुज अहं के गत विधान को बदल गये हिंसा हर;

आपने खड़ी बोली के खुरदरेपन को दूर कर उसे कोमलता,

स्निग्धता एवं सरसरता से युक्त किया, जिससे उसमें नवीन जीवन का संचार हुआ। इन्होंने अपनी भाषा को व्याकरण की रूढ़ियों से मुक्त करके, इसे उसकी सहचरी बनाया है। प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग भी हम इनमें पाते हैं। इनका एक-एक शब्द अपना एक निश्चित रूप रखता है, और एक ही पर्यायवाची शब्द के भिन्न प्रयोग हम इनकी भाषा में पाते हैं, यथा—प्रहसित, विहसित, स्मित, पुराचीन, प्राचीन आदि। साथ ही हम एक सरल तथा संक्षिप्त सामासिक पठावली का प्रयोग भी इनमें पाते हैं।

पन्तजी वास्तव में प्रकृति-चित्रण करने में अत्यन्त सफल हुए हैं। इन्होंने प्रकृति को अनन्त सौन्दर्य का वास्तविक रूप अपने हृदय से सामंजस्य स्थापित करके उपस्थित किया है, जिससे स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि मानो इनके वर्णनों में प्रकृति, आत्मा और प्राण का प्रत्यक्ष एकीकरण विद्यमान है—

आज पल्लवित हुई है डाल, भुकेगा कल गुंजित मधुमास;

मुग्ध होंगे मधु से मधु बाल, सुरभि से अस्थिर मरुताकाश।

इनकी कृतियों में हिन्दी की परम्परागत शैली का ही नहीं, प्रत्युत एक व्यापक काव्य-कला का समावेश है। 'पल्लव' में कल्पनामूलक कविताएँ तथा 'गुंजन' में विचारात्मक कविताएँ संग्रहीत हैं। यह अपनी उत्कण्ठा तथा जिज्ञासा को लेकर, अज्ञात आत्म-साधना के पथ पर अग्रसर हुए हैं, और जीवन के अन्तरंग तथा बहिरंग पक्षों पर हम एक इनका व्यापक दृष्टिपात ही पाते हैं। विश्व-सौन्दर्य से ही इन्होंने अपनी भावुकता को ग्रहण किया है—

इस अनुपम सुन्दर छवि से, मैं आज सजा लूँ निज मन।

अपलक अपार चितवन पर, अर्पण कर दूँ नव यौवन ॥

'गुंजन' में कवि आन्तरिक जीवन के विषय में कहता है—

आत्मा है सरिता के भी जिससे सरिता है सरिता।

जल-जल है लहर-लहर रे गति-गति, सृति-सृति चिरभरिता ॥

जीवन को पन्तजी ने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से ही देखा है। आप कहते हैं—

जीवन की लहर-लहर से हँस खेल-खेल रे नाविक ।

जीवन के अन्तस्तल में नित बूड़-बूड़ रे भाविक ॥

इनका रहस्यवाद प्रकृति-सम्बन्धी रहस्यवाद है तथा यह साम्प्रदायिक न होकर स्वाभाविक ही है। इस रहस्यमय जगत् के नाना रूपों से प्रभावित होकर ही कवि ने रहस्य तथा चित्रमयी कल्पना की है, जिसमें इस संसरणशील संसार के दृश्य व्यापारों के द्वारा एक छिपी हुई तथा अज्ञात सत्ता के विषय में चिन्तन हुआ है—

कँप-कँप हिलोर रह जाती, रे मिलता नहीं किनारा ।

बुदबुद विलीन हो चुपके, पा जाता आशय सारा ॥

यह स्वच्छन्दवाद के स्वाभाविक तथा निराले मार्ग पर ही चले हैं। संसार के विषय में आप लिखते हैं—

न अपना ही न जगत का ज्ञान नाम गुण रूप अज्ञान ।

यूरोप के 'सौन्दर्य' तथा कलावाद की इनकी रचनाओं में स्पष्ट मूलक मिलती है—

धूल की ढेरी में अनजान छिपे हैं मेरे मधुमय गान ॥

इनमें रहस्य-भावना की अपेक्षा दार्शनिकता ही अपने स्वाभाविक रूप से निहित है। आजकल कल्पना के आकाश से उतरकर आपने यथार्थ जगत् का चित्रण प्रारम्भ किया है। 'युगवाणी' में सामाजिक उत्थान का भी वर्णन उपस्थित है। इनका भुकाव समाजवाद तथा गांधीवाद दोनों की ही ओर है। 'छायावाद' की संकीर्ण परिधि से निकलकर पन्तजी ने संसार का वास्तविक निरीक्षण किया है, और यही उनकी कृतियों में स्पष्टरूपेण व्यक्त है। इनका व्यक्तित्व भी पूर्ण संस्कृत तथा शास्त्रीय है। आधुनिक युग के क्रान्तिकारी कवियों में प्रसाद और निराला की भाँति इन्हें भी उच्चासन प्राप्त है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'—निराला जी का जन्म संवत् १९५५ में

भय में आशा को जहाँ मिलते थे समाचार ।
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं में सच्चा प्यार ।

तथा

जागो फिर एक बार
समर में अमर कर प्राण
गान गाये महा सिन्धु से
सिन्धु नद तीर-वासी
.....

सवा-सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्दसिंह निज
नाम जब कहाऊँगा ।

इस तरह उस 'अज्ञात सौन्दर्य' की ओर संकेत करने के साथ-साथ आपने संसार के वास्तविक व्यापारों की भी समीक्षा की है। समाज में प्रचलित ढोंगों तथा मानव-जीवन की विवशताओं के उन्होंने सच्चे चित्र खींचे हैं। यह निराशावादी कवि नहीं हैं, प्रत्युत्-जीवन की प्रत्येक कठिनाई का एक सच्चे वीर की भाँति इन्होंने सामना किया है। आप लिखते हैं—

खण्डित करने को भाग्य अंक, देखा भविष्य के प्रति अशंक ।

जीवन के संघर्षों और परिस्थितियों से प्रभावित होकर आप अब यथार्थवाद का ओर जोरों से झुकते जा रहे हैं, और पूँजीवादी व्यवस्था आपको अब प्रगतिवाद की ओर ले जा रही है। इसी का अब आप अपने कविताओं तथा रचनाओं में चित्र उपस्थित कर रहे हैं और 'भिक्षु', 'दोन', 'विधवा' आदि इसी के उदाहरण हैं—

दो ठूक कलेजे के करता पछुताता पथ पर आता

पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,

चल रहा लकुटिया टेक ।

खुला भेद विजयी कहाये हुए जो, लहू दूसरे का पिये जा रहे हैं ।

इस तरह निराला जी ने ही जागरण का प्रथम बार शंख बजाया है । हमारी राष्ट्रीय चेतना को सजीव वाणी प्रदान करते हुए, हमारे अतीत को गौरव तथा दर्प से चमकाने की इनमें अपूर्व क्षमता है । अतः आप 'आधुनिक हिन्दी-काल के युगान्तरकारी प्रवर्त्तक एवं युग-स्तम्भ' हैं ।

महादेवी वर्मा—इनका जन्म सं० १९६४ में फर्रुखाबाद में हुआ था । इनके पिता श्री गोविन्दप्रसाद वर्मा थे और इनकी प्रारम्भिक शिक्षा इन्दौर में हुई थी । इसके पश्चात् आपने एम० ए० तक अध्ययन किया । कुछ समय तक आप 'चाँद' की सम्पादिका भी रह्यो, और फिर 'प्रयाग महिला विद्यापीठ' के आचार्या-पद को स्वीकार किया तथा आज तक आप इसी पद पर प्रतिष्ठित हैं । आपने हिन्दी-लेखक तथा कवियों की सहायता के हेतु 'साहित्य-संसद' नामक संस्था की स्थापना की है । आपकी 'नीरजा' पर 'सेकसरिया पुरस्कार' तथा 'यामा' पर 'मंगलाप्रसाद पारितोषिक' प्राप्त हुआ है ।

इनकी रचनाओं में 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा', 'सान्ध्य-गीत' और 'दीप-शिखा' प्रसिद्ध हैं । 'यामा' में 'नीहार', 'रश्मि' और 'नीरजा' की ही कविताएँ संग्रहीत हैं । इनके अतिरिक्त 'अतीत के चलचित्र' और 'शृङ्खला की कड़ियाँ' निबन्धों का संग्रह तथा 'हिन्दी का विवेचनात्मक-गद्य' नामक एक आलोचनात्मक पुस्तक भी आपने लिखी है । गीत लिखने में इन्हें अपूर्व सफलता प्राप्त हुई । इनकी शैली हृदय की भाव-भंगी से ओत-प्रोत है और इसमें भाषा का स्निग्ध एवं प्रांजल प्रवाह ही प्रवाहित हुआ है । छायावाद की अभिव्यञ्जनात्मक शैली को अपनाकर आपने प्रकृति के मार्मिक चित्रों को अंकित किया है ।

यह मीरा की अवतार कही जाती है, और मीरा के माधुर्य तथा अनन्त विरह की वेदना के इनके पदों में दर्शन होते हैं । इन्हीं की कविताओं में हमें वास्तविक रहस्यवाद मिलता है । इनका यह रहस्य-

वाद, वेदना-प्रधान है, जो उस अज्ञात तथा अनन्त प्रियतम के प्रति प्रकट है, जिसके मिलन के लिए प्रत्येक प्राणी लालायित रहता है। पर 'मिलन' की अपेक्षा आपने 'विरह' को ही प्रधानता प्रधान की है—

मिलन का मत नाम ले मैं विरह में चिर हूँ ।

इनकी कविताओं में हम प्रियतम की उत्सुकतापूर्ण प्रतीक्षा पाते हैं। इनके अलौकिक विरह, मिलन आदि में वासना इत्यादि के चिह्न तक नहीं विद्यमान हैं, और शृङ्गार-वर्णन भी पवित्र ही हैं। संयोग और वियोग दोनों पक्षों का सुन्दर चित्रण हम इनमें पाते हैं तथा इनकी वेदना में हृदय की वास्तविक अनुभूतियों के दर्शन करते हैं। इनकी भावनाओं की अभिव्यक्ति काल्पनिक छाया रूप से ही हुई है। इन्होंने सर्वत्र अपनी कविताओं में उस अस्पृश्य तथा अदृश्य प्रियतम परमात्मा के प्रति आत्म-निवेदन किया है। प्रकृति की प्रत्येक दशा में, यह उसी आत्म-रूप प्रियतम के आनन्द तथा उल्लास का दर्शन करती है—

मेवों में विद्युत-सी छवि, उनकी बनकर मिट जाती,

आँखों की चित्रपटी में जिसमें मैं आँक न पाऊँ ।

वे तारक-त्रालाओं की अपलक चितवन बन आते,

जिसमें उनकी छाया भी मैं छू न सकूँ, अकुलाऊँ ।

सोते सागर की धड़कन बन लहरों की थपकी से,

अपनी यह करुण कहानी जिसमें उनको न सुनाऊँ ।

इन्होंने इस नश्वर जगत् से ऊँचा उठकर अनन्त तथा असीम का गान भी गाया है—

दूर उन्हीं नीलम कुलों पर था पीड़ा का भीना तार ।

उच्छ्वासों की गुँथी माला मैंने पाई थी उपहार ॥

इन्हें इस नाशवान जीवन का भी मोह नहीं है—

चिन्ता क्या है हे निर्मम बुझ जाये दीपक मेरा ।

हो जायेगा तेरा ही पीड़ा का राज्य अँधेरा ॥

भक्ति-काल के सन्त कवियों में आत्मा तथा परमात्मा के प्रति जिस

विकलता का समावेश है, उसे हम महादेवी में भी पाते हैं। इनकी कविताओं में रूप-चित्रण की अपेक्षा भाव-चित्रण की ही प्रधानता है, साथ ही इनका झुकाव करुणा और भक्ति-भाव की ओर ही अधिक रहा है। इनकी रचनाएँ कल्पना, कला और प्रतिभा-सम्पन्न हैं। अपने आरम्भिक जीवन में आपने सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना से अनु-प्राणित होकर कविता की थी, पर बाद में आपकी रचनाएँ कल्पना-प्रधान होने लगीं। आपने स्वयं अपने एक भाषण में कहा था—

कवि के पास एक व्यावहारिक बाह्य संसार है, दूसरा कल्पना-निर्मित आन्तरिक। परन्तु वे दोनों परस्पर-विरोधी न होकर एक-दूसरे की पूर्ति करते रहते हैं।

छायावादी कवियों में महादेवी जी को उच्च स्थान प्राप्त है, और आपने प्रेम तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी रहस्यवाद को अपनाकर उसका सम्बन्ध काव्य-वस्तु से जोड़ते हुए, उसे अपने वास्तविक रूप में प्रकट किया है।

माखनलाल चतुर्वेदी—इनका जन्म मध्यप्रान्त के होशंगाबाद जिले में संवत् १९४५ में हुआ था। इन्होंने प्रारम्भ में 'कर्मवीर' का सम्पादन किया था और बाद में 'प्रताप' तथा 'प्रभा' के भी सम्पादक रहे। आजकल आप फिर 'कर्मवीर' का सम्पादन कर रहे हैं। इनकी वाणी में कड़क तथा जोश भरा हुआ है, और क्रान्तिकारी विचारों का भी उचित समावेश है। अपने हरिद्वार अधिवेशन में 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' ने सभापति के पद से इन्हें विभूषित किया था। अल्प होने पर भी इनकी साहित्यिक कृतियाँ उच्च कोटि की हैं। 'हिम-किरीटिनी' पर इन्हें 'देव-पुरस्कार' प्राप्त हुआ है। इनकी रचनाओं में 'हिम-किरीटिनी', 'हिम-तरंगिनी' (कविता-संग्रह), 'कृष्णाजुन-युद्ध' (नाटक), 'साहित्य-देवता' (गद्य-काव्य) तथा 'बनवासो' (कहानी-संग्रह) इत्यादि प्रसिद्ध हैं।

इनकी भाषा, शैली, विषय आदि सभी मौलिक हैं। शुद्ध भाषा के साथ उसमें उर्दू शब्दों का प्रयोग भी हम पाते हैं। एक भारतीय

आत्मा के नाम से इन्होंने कविता की है। देशव्यापी विराट आन्दोलन तथा राष्ट्रीयता की अपूर्व झलक हम इनकी कविताओं में पाते हैं। जनता की मानसिक धारा ओजस्वी शब्दों में व्यक्त है। इनमें हमें राष्ट्रीय जीवन की झाँकी, कसक, हूक, टीस एवं सुख-दुख की प्रतिध्वनि के दर्शन होते हैं। 'कैदी और कोकिला' में कितना मर्म-स्पर्शी एवं सजीव चित्र खींचा गया है—

तुम्हे मिली हरियाली डाली, मुझे नसीब कोठरी काली।

तेरा नभ-भर में संचार, मेरा दस फुट का संसार।

तेरी गीतें उठती आह, रोना भी है मुझे गुनाह।

आपकी रचनाओं में बलिदान की ज्वाला, मर मिटने की चाह तथा अपने को एक बड़े लक्ष्य के लिए सर्वदा धूल में मिलाने की प्रस्तुत रहने की भावना विद्यमान है। 'सिपाही' शीर्षक कविता में हमें इन्हीं विशेषताओं की प्राप्ति होती है—

क्या वीणा की सुर लहरी का सुनूँ मधुरतर नाद,

छिः मेरी प्रत्यञ्चा भूले अपना यह उन्माद।

भँकारों का कभी सुना है, भीषण वाद-विवाद,

क्या तुमको है कुरुक्षेत्र, हल्दीघाटी की याद।

सिर में प्रलय नेत्र में मस्ती, मुट्ठी में मन चाही,

लक्ष्य-मात्र मेरा प्रियतम है मैं हूँ एक सिपाही।

इनकी कविताओं में जीवन के भावाख्यान की समष्टि ही उपस्थित रहती है। राष्ट्रीय कविताओं के अतिरिक्त प्रेम तथा सौन्दर्य-सम्बन्धी रहस्यवाद का पुट देते हुए भी आपने कुछ कविताएँ लिखी हैं। कबीर की शैली पर मृत्यु के सम्बन्ध में आपकी ये पंक्तियाँ कितनी सुन्दर हैं—

अरी ओ, दो जीवन की मेल,

सखि, तेरा आगम, उनसे मुक्त प्रणय का खेल !

अरमानों की फटी चदरिया, क्यों बिगड़े सिलने में ?

दो बिछुड़ी पलकों के, श्यामा, दुःख क्यों हो मिलने में ?

इस कविता में प्रियतम (परमात्मा) से मिलने का सुन्दर चित्र उपस्थित किया गया है। इनकी कविताओं की भाव-भूमि पर प्राचीन हिन्दी-कवियों का प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है, तथा इनमें विश्व-चेतना के कलरव का हम आभास पाते हैं। निराला जी ने एक लेख में इनके विषय में लिखा है—

कविता के वर्तमान उपासकों में एक गौरव-पद पं० माखनलाल चतुर्वेदी को प्राप्त है।

डा० रामकुमार वर्मा की प्रारम्भिक रचनाएँ इतिवृत्तात्मक ही हैं, पर बाद की रचनाओं में अनुभूति की ही प्रधानता है। इनके गीत भावपूर्ण और संगीत के नाद से समन्वित हैं, तथा इनकी रचनाएँ कबीर के, एवं पाश्चात्य रहस्यवाद से प्रभावित हैं। कवि के साथ-साथ यह एक श्रेष्ठ नाट्यकार तथा समालोचक भी हैं। इनकी रचनाओं में 'चित्ररेखा', 'चन्द्रकिरण' तथा 'निशीथ' आदि अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

भगवतीचरण वर्मा की कविताएँ दुःख तथा निराशापूर्ण हैं। परन्तु आप इनसे भागते नहीं। साम्यवाद से प्रभावित होकर आप अब प्रगतिवाद की ओर पूर्णतया झुक गए हैं, और 'मानव' नामक काव्य-संग्रह इसी का द्योतक है। 'भैंसा-गाड़ी' में भी समाज के वैषम्य का बड़ा सजीव चित्र उपस्थित किया गया है।

हरिवंशराय बच्चन ने उमर-खैयाम की रूबाइयों से प्रभावित होकर, 'हालावाद' को लेकर, हिन्दी-कविता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जिसमें जीवन का माधुर्य अपने वास्तविक रूप में उपस्थित पाया जाता है। पर इसके साथ-ही-साथ 'निराशा' और वेदना का उचित समावेश भी आपकी कविताओं में है। प्रगतिवाद से आप भी प्रभावित हैं। आपकी रचनाओं में 'मधुशाला', 'सतरंगिनी' तथा 'हलाहल' आदि अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। छायावादी कवियों में 'निर्माल्य', 'एकतारा', 'कल्पना' एवं भुजदण्डों को फड़काने वाली 'आर्यावर्त' के लेखक मोहनलाल महतो 'वियोगी', 'मधूलिका' तथा 'अपराजिता' के लेखक

श्री रामेश्वर शुक्ल 'अंचल', 'कृष्णफूल', 'शूल फूल' इत्यादि के रचयिता श्री नरेन्द्र शर्मा तथा 'कलापी' के संग्रहकर्ता आरसीप्रसादजी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रीय कार्यकर्ता तथा हिन्दी के प्रबल समर्थक श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की कविताओं में क्रान्तिकारी विचारधारा के साथ-साथ प्रेम और विरह-वेदना का भी प्रमुख स्थान है। इनकी कविताएँ पाठक को बहुत ही शीघ्र तथा विशेषरूपेण प्रभावित करती हैं। 'विस्मृत उर्मिला' महाकाव्य में उर्मिला के जीवन का वर्णन किया गया है। इनकी 'विप्लव-गायन' शीर्षक कविता अत्यन्त प्रसिद्ध है—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाये।

एक हिलोर इधर से आये, एक हिलोर उधर से आवे ॥

यह प्रगतिवादी क्रान्तिधारा के प्रवर्तक हैं।

इस युग के और प्रसिद्ध कवियों में पं० उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथ-प्रसाद 'मिलिन्द', हरिकृष्ण 'प्रेमी' एवं ज्योतिन्द्र 'सुमन' आदि हैं। कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं, जिनकी छायावादी रचनाएँ कम हैं, और जिन्होंने एक स्वच्छन्द धारा कविता के क्षेत्र में बहाई है। ऐसे कवियों में पं० केशवप्रसाद पाठक, ठाकुर गुरुभक्तसिंह तथा सुभद्राकुमारी चौहान आदि हैं। सुभद्राजी हिन्दी की प्रमुख कवयित्रियों में से थीं, जिनमें प्रणय का मधु तथा दुखी देश के आँसू, दोनों विद्यमान थे। इनकी कविताएँ अत्यन्त सरल हैं तथा इनमें भावों की जटिलता का सर्वथा अभाव है। भाषा भी सरल तथा स्वाभाविक ही है। साधारण पाठक पर भी इन कविताओं का शीघ्र ही प्रभाव पड़ता है। इनकी कृतियों में 'मुकुल', 'बिखरे मोती', 'उन्मादिनी', 'त्रिधारा' इत्यादि मुख्य हैं, तथा ये प्रेम, देश-भक्ति, एवं वात्सल्य से ओत-प्रोत हैं। शृङ्गार भी संयत रूप से ही सर्वत्र विद्यमान है—

मुझे बता दो मानिनि राधे ! प्रीति रीति वह न्यारी।

क्योंकर थी उस मनमोहन पर, अविचल भक्ति तुम्हारी ॥

‘फाँसी की रानी’, ‘वीरों का कैसा हो वसन्त’ शीर्षक कविताओं ने जनसाधारण को वीर-भावना से युक्त करके, उनके हृदय को नव जागरण के सन्देश से भर दिया, जिससे आक्रान्त जनता जागृति से परिपूर्ण हुई। इस तरह इनकी रचनाओं में सर्वत्र ही राष्ट्रीय चेतना का समावेश है। इनकी कविताएँ दुरूह नहीं हैं, अपितु उनमें सरल भाषा तथा शैली में मानव का स्वाभाविक चित्र अंकित किया गया है।

प्रगतिवाद

संभवत् १९६३ में श्री प्रेमचन्दजी ने प्रगतिशील लेखक-संघ की स्थापना की थी। साधारणतः साहित्य सदा ही प्रगतिशील रहा है, और दलित समाज की भावनाएँ सर्वदा साहित्य के द्वारा व्यक्त होती रही हैं, अतः किसी युग-विशेष को प्रगतिकाल कहना यथार्थ नहीं है। पर हिन्दी-साहित्य में इस शब्द का प्रयोग बहुत ही अधिक हो गया है। इस युग में संसार में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं, जिससे भयंकर मन्दी और बेकारी उपस्थित हुई, तथा सर्वत्र शोषण, चोरबाज़ारी इत्यादि की धूम हुई। देश के साहित्य पर ‘साम्यवाद’ तथा ‘गांधीवाद’ का प्रचुर प्रभाव पड़ा।

प्रगतिवाद मूलतः राजनीतिक धरातल पर ही स्थित है। इस युग की रचनाओं में गम्भीर भावनाओं का अभाव है, तथा केवल क्षणिक आवेगों को ही प्रधानता प्रदान की गई है। इसकी भाषा काफी ओज-पूर्ण है तथा रचनाओं के पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि पूँजी-पति की शोषण तथा दुर्व्यवहारों की निन्दा एवं मजदूरों की दीन दशा का वर्णन प्रत्यक्ष ही कर रहा है। कवि के सामने इस युग का मानव-समाज आर्थिक कठिनाइयों से त्रस्त तथा राजनीतिक शोषणों से लुब्ध ही था। अतः कवियों में मानवतावाद की भावना प्रधान हुई, और मानव-कल्याण की ही भावना काव्य-रचना का मुख्य विषय हुई। छायावादी कवि अपने दुःख-सुख में रोए-गाए हैं, पर वे समाज के शोक के प्रवाह में नहीं बहे हैं। लेकिन प्रगतिवादी कवि समाज के सुख-दुःख

में ही अपने को रंग पाया है। यह सुधार में ही नहीं, अपितु नव-निर्माण में भी विश्वास करता है। अतः छायावादी युग के करुणा, मौन, छाया तथा लज्जा आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय परिवर्तित होकर इस युग में विधवा, किसान, मजदूर, भिखारी, भूख आदि दैनिक जीवन-सम्बन्धी विषय हो गए। इस युग में कविता आन्तरिक हृदय की वस्तु न होकर तार्किक अथवा बौद्धिक हो गई। कविताओं में 'सिपाही' अथवा 'भिखारी' के वर्णन के साथ-ही-साथ 'केलि मार्क्स' तथा लेनिन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने लगा। समाज के बन्धनों के साथ भाषा, भाव, छन्द इत्यादि के भी बन्धन ढीले पड़ने लगे। पुरानी उपमाओं के स्थान पर 'मशाल', 'तांडव', 'प्रलय' इत्यादि का प्रयोग होने लगा। इनकी भाषा सरल तथा सुबोध हुई, जिसमें एक धारावाहिकता तथा स्वच्छन्द गति के दर्शन होते हैं।

पर जहाँ सच्चे प्रगतिवादी कवियों ने मानवतावाद को अपनाकर उसी के चित्रण में अपने काव्य का सृजन किया है, वहाँ पर उनके अनुकरण करने वाले अनेक कवियों ने जनहित के उपयोगी तत्त्वों को भी, ठुकराया है। इन्होंने प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति भी घृणा प्रकट की है, और समाज के हेय तथा कुत्सित अंशों के वर्णन में भी गौरव का प्रदर्शन किया है। वर्ग-विद्वेष के बीज भी इन कवियों द्वारा बोये गए हैं। पर कुछ भी हो, यह शोषित जन का कल्याण चाहते हुए समाज में क्रान्ति उपस्थित करना चाहता है। सन् बयालीस के आन्दोलन तथा बंगाल के अकाल आदि से भी यह साहित्य विशेष रूप से प्रभावित हुआ। पन्त तथा निराला आदि ही सर्वप्रथम इस क्षेत्र में अवतरित हुए। इस युग के अन्य कवियों में उदयशंकर भट्ट, भगवती-चरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अंचल, नरेन्द्रराय, 'अज्ञेय', शिवमंगलसिंह 'सुमन', गोपालसिंह 'नेपाली', प्रभाकर भाचवे, नागार्जुन, पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' तथा रामधारीसिंह दिनकर आदि मुख्य हैं। उपन्यास एवं कहानी-क्षेत्र में भी इस युग में अधिक उन्नति

हुई। उपन्यासों तथा कहानीकारों में यशपाल, अमृतलाल, पहाड़ी इत्यादि मुख्य हैं। इस युग में बड़े उत्कृष्ट आलोचक भी हिन्दी-साहित्य को मिले, जिनमें डॉ० रामविलास शर्मा, श्री अमृतराय, श्री प्रकाश-चन्द्र गुप्त तथा शिवदानसिंह चौहान आदि उल्लेखनीय हैं। इस युग में पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र द्वारा 'कृष्णायन' तथा पं० बलदेवप्रसाद मिश्र द्वारा 'साकेत सन्त' नामक दो महाकाव्यों की रचना भी हुई।

प्रगतिवादी कवियों में दिनकर जी का उत्कृष्ट स्थान है। 'रेणुका', 'रसवन्ती', 'द्वन्द्वगीत', 'हुंकार', 'धूप-छाँह', 'समधेनी' और 'बापू' इनके काव्य-संग्रह हैं तथा 'कुरुक्षेत्र' इनका महाकाव्य है। इनको कविताओं में वीरोचित लालसा, जीवन के संघर्ष का सफल चित्रण, तथा भावना की तीव्रता अपने वास्तविक रूप में उपस्थित है। इनका हृदय विद्रोह की चिनगारियों से झुलसा हुआ है। साथ ही यह इतिहास का दर्प जगाने वाले, अतीत के गौरव का चित्राङ्कन करने वाले, और वीरों के भुजदण्डों को फड़काने वाले हैं। इन्होंने प्रगतिवाद को एक सम्प्रदाय के स्वरूप में नहीं अपनाया है अपितु यह इनके हृदय की वास्तविक अनुभूति है। इनका काव्य जीवनोत्थान का साधन है। मार्क्सवाद पर भी आपकी उत्तम कविताएँ हैं—

उठ 'भूषण' भावरागिणी, रूसो के दिल की चिनगारी।

लेनिन के जीवन की ज्वाला, जाग जाग रही क्रान्ति कुमारी ॥

लाखों क्राँच कराह रहे हैं, जाग आदि कवि की कल्याणी।

फूट फूट तू कवि कंठों से, बन व्यापक निज युग की वाणी ॥

यह राष्ट्रीय गौरव और स्वाधीनता-संग्राम की परम्परा के अनुयायी बनकर ही साहित्य क्षेत्र में अवतरित हुए हैं। इनकी वाणी में कितना ओज है—

गरज कर बता सबको, मारे किसी के मरेगा नहीं हिन्द देश।

आपने भाग्यवाद के प्रति अविश्वास प्रकट किया है। इस तरह इनमें राष्ट्र-जागरण तथा विश्वबन्धुता की भावनाओं का प्रचुर समावेश

है, और प्रगतिवादी धारा के यह एक उदीयमान कवि हैं।

भारत-विभाजन का भी हिन्दी-साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा और साम्प्रदायिकता का समाज पर अखण्ड राज्य हुआ। इस समय धर्म के नाम पर लोगों को उत्तेजित करने वाले तथा आहत समाज में जागरण एवं सहानुभूति की स्थापना करने वाले और हिन्दू-मुस्लिम सद्भावना को बढ़ाने वाले साहित्य का सृजन हुआ। इन रचनाओं में उपेन्द्रनाथ 'अशक' हंसराज, 'रहबर', 'अज्ञेय', 'पहाड़ी', 'शमशेर-सिंह' इत्यादि की रचनाएँ मुख्य हैं। पर यह साहित्य स्थायी नहीं है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भी 'साम्यवाद' से प्रभावित होकर हिन्दी-साहित्य के अक्षय भण्डार की वृद्धि की है, और अनेक विषयों पर अपनी लेखनी चलाकर 'राहुल-साहित्य' के निर्माता हुए हैं। विश्ववन्द्य 'बापू' के महाप्रस्थान के बाद उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के हेतु, असंख्य कवियों ने कविताएँ लिखीं। पर इनमें से कुछ ही स्थायीत्व को प्राप्त हो सकीं। इनमें 'बच्चन' तथा पन्त की सम्मिलित-कृति 'खादी के फूल' का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

विधान परिषद् द्वारा हिन्दी के राष्ट्र-भाषा स्वीकृत हो जाने के पश्चात् विद्वानों का ध्यान साहित्य के उन अंगों की पूर्ति की ओर गया, जिनका हिन्दी-साहित्य में अभी अभाव है। अतः पारिभाषिक कोषों-जैसे वैज्ञानिक कार्यों का सम्पादन प्रारम्भ हुआ, और ठोस साहित्य का निर्माण हुआ। हिन्दी-कविता का भविष्य भी उज्ज्वल है। आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर साहित्य प्रगतिवाद के मार्ग पर ही चल रहा है। आवश्यकता अब इस बात की है कि अनेक वादों के फेर में न पड़कर कविता हृदय के वास्तविक उद्गारों को प्रकट करती हुई अपने सच्चे लक्ष्य की पूर्ति करे।

